भक्ति

स्वामी विवेकानन्द

भक्ति

लेखक

स्वामी विवेकानन्द

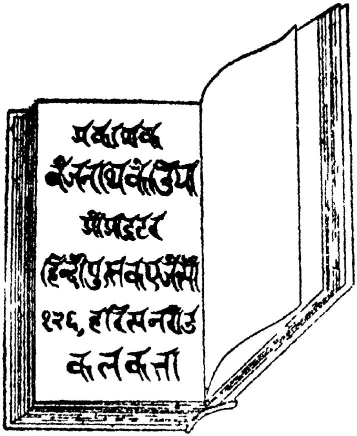
अनुवादक

ज्ञानपिपासु

प्रकाशक -

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रथमबार] अधिक ज्येष्ठ १९८० वि० [मूल्य ।≈)



जगदीशनारायण तिवारी द्वारा
"वणिक् प्रेस"
१, सरकार लेन, (चोरबागान)
कलकत्तामें मुद्रित।

निवेदन

प्रेमी पाठको! आज मैं "सस्ती ग्रन्थमाला" का चौथा पुष्प 'भक्ति' आपको भेंट करता हूं। यद्यपि साहित्य-सरोवर आज कितने ही सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित है परन्तु यह पुष्प अपने ढंगका निराला ही है। ज्यों ज्यों समय बीतता जा रहा है और बीतेगा इस प्रेम-पुष्प—'भक्ति'—से नित नूतन भक्ति-रस टपकता जायगा और प्रेमीजन पान करके अपने प्रेमी प्रभुको प्राप्त करेंगे। भक्त-शिरोमणि स्वामी विवेकानन्द लिखित 'भक्तियोग' का यह अनुवाद है। इसका अनुवाद भी एक 'ज्ञान-पिपासु' ने किया है जो हिन्दी-प्रेमी और भगवद्भक्त है। बंगला और अंग्रेजी—दोनों भाषाओंके पाठकोंने जिस प्रकार इसे अपनाया है उसे देखते मुझे आशा है कि हिन्दी-प्रेमी पाठक भी इसका समुचित आदर करेंगे, जिससे मैं फिर शीघ्रही उनके सामने कोई दूसरा पुष्प उपस्थित कर सकूँ।

विनीत—

प्रकाशक

भक्ति-रहस्य

सस्ती ग्रन्थमालाका पांचवां पुष्प स्वामी विवेकानन्द-कृत 'भक्ति रहस्य' शीघ्र ही पाठकोंकी भेंट की जायगा ।

विषय-सूची

भक्ति



भक्ति

मंगलाचरण

स तन्मयोह्यमृत ईश संस्थो, ज्ञः सर्व्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता,
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव, नान्यो हेतु र्विद्यते ईशनाय।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै,
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

अर्थात्,—वह जगन्मय, अमर, नियन्ता, ज्ञान, सर्वव्यापी और इस जगत्का पालनकर्त्ता है। वह अनन्तकालसे जगत्का शासन कर रहा है, इस जगत्का शासनकर्त्ता और कोई नहीं है। जिसने पहले पहल ब्रह्माको उत्पन्न किया था और फिर उन्हें वेद प्रदान किया था, जिसके प्रकाशसे बुद्धि आत्माकी ओर लग जाती है, मैंने मुक्त होनेकी इच्छासे उसी देवाधिदेवकी शरण ली है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ६, श्लोक १७, १८

भक्तिका लक्षण

कपट छोड़कर, ईश्वरकी खोजका नाम भक्ति है; क्षणिक प्रेमसे इसका आरम्भ होता है, मध्य और अन्त भी प्रेम

ही है। ईश्वर-प्रेमोन्मत्तता भी स्थायी मुक्तिका कारण होती है। नारदजीने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है,—

ॐ सा कस्मै परमप्रेमरूपा

(पहला अनुवाक, दूसरा सूत्र।)

'भगवानमें परम प्रेमका होना ही भक्ति है।' जीव इसे पाकर सब प्राणियोंसे प्रेम करने लगता है, घृणा शून्य हो जाता है और वह सदाके लिये सन्तुष्ट हो जाता है।

ॐ सा न कामयमाना निरोधरूपात्।

—नारदकृत भक्तिसूत्र, दूसरा अनुवाक, सातवाँ सूत्र।

'इस प्रेम द्वारा कोई सांसारिक वस्तु, काम्य वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती' क्योंकि विषय-वासनाके रहते तो इस प्रेमका उदय ही नहीं होता।

ॐ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्याधिकतरा।

(—ना०, भ०, अ० ४, सूत्र २५।)

'भक्ति कर्म, ज्ञान और योगसे भी अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि वे तो सिर्फ साधन हैं पर, 'भक्ति' स्वयं ही साध्य और साधन स्वरूप है*।'

भारतवर्षके पुरुषोंने भक्तितत्त्वकी आलोचना की है, शाण्डिल्य और नारद आदिको—जिन्होंने विशेष रूपसे भक्ति-

* ॐ स्वयंफल रूपतेति ब्रह्म कुमाराः। ना०, भ० अनु० ४, सूत्र ३०

तत्त्वकी व्याख्या ही की है—छोड़ देनेपर भी स्पष्टरूपसे ज्ञान-मार्गका समर्थन करनेवाले व्यास-सूत्र भाष्यकार महापंडितोंने भी, भक्तिके सम्बन्धमें कई जगह उल्लेख किया है। सब न सही, अधिकांश सूत्रोंकी शुष्क ज्ञानसूचक अर्थमें व्याख्या करने-का आग्रह रखनेपर भी सूत्रोंका, विशेषकर उपासना-काण्डके सूत्रोंका, अर्थ निष्पक्षभावसे देखनेपर सहजमें उनकी ऐसी मनमानी व्याख्या नहीं चल सकती।

साधारण लोगोंकी समझ है कि ज्ञान और भक्ति बिल्कुल पृथक् पदार्थ हैं। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। आगे चलकर मालूम होगा, ज्ञान और भक्ति अन्तमें कैसे एक ही लक्ष्यस्थल-पर पहुंचते हैं। राजयोगका भी वही लक्ष्य है। भोले-भाले लोगों-की आंखोंमें धूल झोंकनेके लिये नहीं, बल्कि मुक्ति लाभकी इच्छासे किया जाय तो वह भी उसी एक ही लक्ष्यपर पहुंचा देता है।

भक्तियोगमें एक विशेष सुविधा है, वह हमारे अन्तिम लक्ष्य—ईश्वरतक पहुंचनेका बड़ा सहज और स्वाभाविक मार्ग है। हां, यदि भक्ति सच्ची और उच्च श्रेणीकी न होकर निम्न-श्रेणीकी हुई—संकुचित, स्वार्थ और वासनासे परिपूर्ण हुई—तो भक्तमें प्रायः धार्मिक हठ आ जाता है। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि धर्मोंमें जो हठधर्मी पाये जाते हैं, जिन्हें धर्मके नामपर सब कुछ कर डालनेमें कभी आगा-पीछा सोचनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, वे इसी निम्नश्रेणीकी भक्तिके

पुजारी होते हैं। जिस इष्ट-निष्ठाके बिना सच्चे प्रेमकी उत्पत्ति ही असम्भव है, बहुत बार वही और सब मतोंपर तीव्र आक्रमण और दोषारोपका भी कारण हो जाती है। देखा जाता है कि सब धर्मों और सब देशोंके ऐसे व्यक्ति—जिनके मस्तिष्कका विकास नहीं हुआ है, जो धर्मके दुर्बल अधिकारी हैं—उनके सामने अपने आदर्श-सत्यमें प्रेम करनेका एक ही उपाय है और वह उपाय है अन्य सब आदर्शों पर घृणा रखना। अपने आदर्श-ईश्वर और अपने आदर्श-धर्ममें जो अत्यन्त अनुरक्त होते हैं वे दूसरे किसी भी आदर्शकी बात सुननेपर चीखने चिल्लाने लगते हैं। इसका कारण इसीसे समझमें आ जाता है। यह प्रेम मानों स्वाभाविक कुत्तेके प्रेमके समान है जो अपने स्वामीकी वस्तु दूसरेको नहीं छूने देता। भेद इतना ही है कि कुत्तेको यह स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव-युक्तिसे श्रेष्ठतर है, क्योंकि मालिक चाहे जो भेष बदलकर आवे, कुत्ता कभी भ्रमसे उसे शत्रु नहीं मानता। पर कट्टर मनुष्य अपनी सम्पूर्ण विचार-शक्तिसे हाथ धो बैठता है। वह विचारकी अपेक्षा मनुष्यकी ओर अधिक दृष्टि रखता है। कौन क्या कहता है, सच कहता है या झूठ, उनकी समझमें इसके देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं, पर यह कहनेवाला कौन है, इसीपर उनकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। आप देखेंगे कि जो लोग अपने सम्प्रदाय, निज-मतवालोंके साथ दया, न्याय और प्रेमका बर्त्ताव करते हैं वही दूसरे मतवालोंके साथ कोई बुराई उठा नहीं रखते, किन्तु यह आशङ्का केवल भक्तिकी

निम्नश्रेणीमें ही है—इस अवस्थाका नाम गौणी भक्ति है। इस भक्तिके कुछ परिपक्क होकर पराभक्तिके रूपमें परिणत हो जानेपर फिर ऐसी कट्टरता होनेका खटका नहीं रहता। इस पराभक्तिमें मस्त मनुष्य प्रेम-स्वरूप ईश्वरके इतना पास पहुंच जाता है कि फिर उससे दूसरोंपर घृणा की नहीं जा सकती।

इसी जन्ममें सभीका सामंजस्यरूपसे चरित्र-गठन करना सम्भव नहीं है। किन्तु वही महाचरित्र है—जिसमें ज्ञान, भक्ति और योग समान भावसे विराजमान हैं। पक्षीके उड़नेके लिये तीन साधनोंकी आवश्यकता है:—दो पर और पतवारकी भांति एक पूंछ। ज्ञान और भक्ति दो पर हैं, इन दोनों परोंको सम-भावमें बनाये रखनेके लिये योग पूंछके समान है। किन्तु जो लोग ये तीनों साधन—ज्ञान, योग और भक्ति—एक साथ नहीं कर सकते, केवल भक्ति-मार्गके ही साधक हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि नये साधकके लिये बाहरी अनुष्ठानों और क्रियाओंकी बड़ी आवश्यकता होती है, फिर भी अनुष्ठानों और क्रियाओंसे भगवानपर गाढ़ा प्रेम उत्पन्न कर देनेके अतिरिक्त और कोई काम नहीं निकलता; मुख्य भक्ति ही है।

ज्ञान और भक्ति-मार्गके उपदेशकोंमें भक्तिके प्रभावको मानते हुए भी थोड़ासा मतभेद है। ज्ञानी भक्तिको मुक्तिका उपाय-मात्र मानते हैं, परन्तु भक्त कहते हैं कि वह उपाय और उद्देश्य दोनों है, मेरी समझमें यह केवल नाममात्रका भेद है। जब भक्ति केवल साधन-स्वरूप समझी जाती है तब वह निम्नश्रेणीकी

उपासनामात्र है। और यह निम्नश्रेणीकी उपासना ही कुछ आगे चलकर उच्चश्रेणीकी भक्तिके साथ अभिन्न हो जाती है। जान पड़ता है सभी लोग जो अपनी अपनी साधनाप्रणालीपर जोर देते हैं मानों यह सत्य भूल जाते हैं कि पूर्ण भक्ति उदय होनेपर न चाहनेपर भी प्रकृत-ज्ञान आये बिना न रहेगा और पूर्णज्ञानके साथ प्रकृत-भक्तिका भी कोई भेद नहीं है।

देखिये, 'आवृत्ति रसकृदुपदेशात्' इस सूत्रकी व्याख्यामें भगवान् शंकरका कथन है,—"लोग कहते हैं कि यह गुरुका भक्त है, वह राजाका भक्त है, ये गुरुभक्त और राजभक्त केवल आदेशोंको पूरा कर दिखानेपर सम्पूर्ण ध्यान रखकर काम करते हैं। इसी प्रकार लोग यह भी कहते हैं कि, पतिप्राणा स्त्री विदेश गये हुए पतिका ध्यान करती है; यहां भी एक प्रकारकी आग्रह-सहित निरन्तर स्मृतिकी ही ओर लक्ष्य है" शंकरके मतसे यही भक्ति है।*

फिर भगवान् रामानुजने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्रकी व्याख्यामें कहा है,—

"एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें गिरती हुई अटूट तेलकी धारके समान ध्येय वस्तुके निरन्तर स्मरणका नाम ध्यान है। इस

* लोकेगुरु मुपास्ते राजानमुपास्ते इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्त्तते सएवमुच्यते। तथाध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कंठा सैवमभिधीयते।

—ब्रह्म सूत्र। अध्याय ४, पाद १, सूत्र १ शांकर भाष्य।

प्रकारकी भगवत्-स्मृतिकी दशा होनेपर तब सब बन्धनोंका नाश हो जाता है। इसी भांति शास्त्रने इसी निरन्तर स्मरण-को मुक्तिका कारण कहा है। इस स्मृति और दर्शनमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि, 'उस दूर और निकट स्थित पुरुषको देख लेनेपर हृदयकी गांठ खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं और कर्म क्षय हो जाते हैं।' इन शास्त्रोक्त वाक्योंमें स्मृतिको दर्शनके अर्थमें समान भावसे लिया है। (जो पास है वह देखा जा सकता है किन्तु जो दूर है वह केवल स्मरण किया जा सकता है। तथापि शास्त्र हमें पास और दूर दोनोंको ही देखनेके लिये कहता है इसलिये यह स्पष्ट है कि स्मरण और दर्शनका समान कार्य्य है।) यही स्मृति प्रगाढ़ होनेपर दर्शनके समान हो जाती है। * * * 'फिर शास्त्रोंके मुख्य मुख्य श्लोकोंमेंही पाया जाता है कि उपासनाका अर्थ सदा स्मरण करना है। ज्ञान जो निरन्तर उपासनासे आ मिले वह भी निरन्तर स्मरणके अर्थमें लिया गया है। सारांश, जो स्मृति प्रत्यक्षानुभूतिका आकार धारण करती है वही शास्त्रोंमें मुक्तिका कारण कही गयी है। अनेक प्रकारकी विद्याओंसे, बुद्धिसे वेदको बारबार पढ़नेसे आत्मा नहीं प्राप्त होता। जिसे यह आत्मा वरण करता है वही आत्माको प्राप्त होता है उसीके सन्मुख आत्मा अपना स्वरूप प्रकाश करता है।' यहां श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्मा प्राप्त नहीं होता। पहले यह कहकर फिर कहते हैं कि आत्मा जिसको वरण करता है वही आत्माको

प्राप्त होता है। 'वरण' करना उसीका सम्भव है जो अत्यन्त प्रिय हो। जो आत्माको अत्यन्त प्यार करते हैं, आत्मा भी उन्हींको अत्यन्त प्यार करता है। आत्माकी प्राप्तिमें भगवान् स्वयं आत्माका प्यार करनेवालोंकी सहायता करते हैं। कारण, भगवान्ने कहा है,—'जो लोग मुझपर निरन्तर आसक्त हैं और प्रेम सहित मेरी उपासना करते हैं, मैं उनकी बुद्धिको इस प्रकार चलाता हूं कि जिसमें वे मुझे पा सकें।' दर्शनरूप यह स्मरण जिसे अत्यन्त प्यारा है उसको परमात्मा वरण करता है, वह परमात्माको पा लेता है। यह निरन्तर स्मरण 'भक्ति' के नामसे पुकारा गया है।"*

* ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा ध्रुवा स्मृतिः, 'स्मृत्युपलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृति दर्शनसमानाकारा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यनेनैकार्थ्यात् एवं च सति 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद्दर्शनरूपता। वाक्यकारेणैतत् सर्वं प्रपञ्चितम्। वेदनमुपासनम् स्यात् तद्विषये श्रवणादिति। सर्वासूपनिषत्सु मोक्ष साधनतया विहितं। 'वेदनमुपासनमित्युक्त सकृत प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात्। प्रयाजादिवत् इति पूर्वं पक्षं कृत्वा 'सिद्धं तूपासनशब्दात्। इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम् उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्चेति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्। सेयं स्मृति दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः एवं

पतञ्जलिके 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्रकी व्याख्यामें भोजने कहा है "प्रणिधानका अर्थ वह भक्ति है जिसमें सारी फलकी इच्छा (जैसे इन्द्रियोंके भोगादि) को त्यागकर, सम्पूर्ण कर्म उस गुरुओंके गुरुको समर्पण कर दिये जाते हैं।"* फिर भगवान व्यास उसीकी व्याख्यामें कहते हैं,—"प्रणिधानका

प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' इति अनेन केवल श्रवण मनननिदिध्यासनानात्म प्राप्त्युपायत्वं मुक्त्वा, यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्य" इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयप्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तं 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इति 'प्रियो हि ज्ञानिनो त्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति च। अतः साक्षात्कार रूपा स्मृतिः स्मर्यमाणात्यर्थ प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थ प्रिया यस्य स एव परमात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तं भवति, एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्ति शब्देनाभिधीयते।

ब्रह्म सूत्र, रामानुजभाष्य, प्रथम सूत्रका भाष्य।

प्रणिधानं तत्र भक्ति विशेषो विशिष्ट मुपासनं सर्वक्रियाणामपि तदार्पणं। विषय सुखादिकम् फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परम गुरावर्पयति। पातंजल दर्शन, अध्याय १, एक समाधपाद, सूत्र २३ की भोज वृत्ति।

अर्थ वह विशेष प्रकारकी भक्ति है जिसके द्वारा योगी साधकपर उस परम-पुरुष परमात्माकी कृपा हो जाती है और उसकी सब वासनायें पूर्ण हो जाती हैं*। शाण्डिल्यके मतसे 'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है'† किन्तु महाराज प्रह्लादने जो भक्तिकी विवेचना की है वह सबसे अधिक उचित जंचती है। अज्ञानियोंका इन्द्रिय-विषयोंमें जितना अधिक आग्रह देखा जाता है आपका स्मरण करते समय आपपर मेरे हृदयमें जिसमें वैसी ही तीव्र आसक्ति बनी रहे।‡ आसक्ति--किसके लिये? परम प्रभु ईश्वरके लिये। अन्य किसी पुरुषके (कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो) प्रति आसक्ति कभी 'भक्ति' नहीं हो सकती। इसके प्रमाणमें रामानुजने अपने श्रीभाष्यमें एक प्राचीन आचार्यकी उक्ति उद्धृत की है,—"ब्रह्मासे लेकर छोटेसे तिनके तक संसारके सभी प्राणी, कर्मके हेतु जन्म और मृत्युके वशमें हैं, अज्ञानकी परिधिमें हैं और परिवर्त्तनशील हैं, इसलिये

* "प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्ज्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यान मात्रेण"—इत्यादि।

—पातंजल दर्शन, अ० १ समाधिपाद सूत्र २३, व्यास भाष्य।

† सा परानुरक्तिरीश्वरे,—

—शाण्डिल्य सूत्र, प्रथम अ०, सूत्र २।

‡ या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतःसामेहृदयान्मापसर्पतु॥

विष्णुपुराण, अंश १ अध्याय २० श्लोक १९।

उनमेंसे कोई भी साधकके ध्यानमें सहायक नहीं हो सकता।* शाण्डिल्य सूत्रके 'अनुरक्ति' शब्दकी व्याख्यामें स्वप्नेश्वरने कहा है कि अनुरक्तिका अर्थ है —अनु-पश्चात् और रक्ति आसक्ति। अर्थात् 'वह आसक्ति जो भगवान्के स्वरूप और महिमाका ज्ञान हो जानेपर भगवान्के प्रति उत्पन्न होती है' †। यही आसक्ति भक्ति है। यदि ऐसा न माना जायगा तो स्त्री, पुत्रादिके प्रति अन्ध आसक्ति भी भक्ति हो जायगी। इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अनुभूति—आत्माके ज्ञान और दर्शनके लिये जो अविराम चेष्टा की जाती है, जिसका आरम्भ साधारण पूजा-पाठ आदिसे होता है और अन्त ईश्वरके प्रगाढ़ अनुराग—गाढ़े प्रेममें; उसी अविराम चेष्टाका नाम भक्ति है।

ईश्वरका स्वरूप।

ईश्वर कौन है? "जिसके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, जगत्की स्थिति और लय होता है—वह ईश्वर है।"‡ अनन्त, शुद्ध, नित्य,

* आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः प्राणिनः कर्म्मजनित संसारवशवर्त्तिनः॥ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः। अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः

† भगवन्महिमादि ज्ञानादनुपश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम शाण्डिल्य सूत्र अहि॰ एक १ सूत्र २ स्वप्नेश्वर टीका।

‡ जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्मसूत्र अध्याय २ पाद १ सूत्र २।

मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम करुणाम , गुरुका गुरु है और सबके ऊपर है। "वह अनिर्वचनीय है (शब्दों द्वारा ईश्वरका वर्णन नहीं हो सकता) प्रेम स्वरूप है।"*

अवश्य ही ये सब नाम सगुण ईश्वरके हैं। तब क्या ईश्वर दो हैं? ज्ञानी 'नेति नेति' करते हुए जिस सच्चिदानन्दको प्राप्त होते हैं उससे क्या भक्तोंका ईश्वर भिन्न है? भक्तोंका प्रेममय भगवान् कोई और है? वही एक ही सच्चिदानन्द प्रेममय भगवान हैं, वही सगुण निर्गुण दोनों ही है। सदा स्मरण रखना चाहिये कि भक्त जिस सगुण ईश्वरकी उपासना करते हैं वह ब्रह्मसे स्वतंत्र और अलग दूसरा ईश्वर नहीं है। सभी वही एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म है। बात यह है कि ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप अति सूक्ष्म होनेसे न तो उससे प्रेम किया जा सकता है और न उसकी उपासना ही हो सकती है इसीलिये भक्त ब्रह्मके सगुण भाव अर्थात् परमनियन्ता ईश्वरको उपास्य रूप मानता है।

ब्रह्म मानों मृत्तिका वा उपादान हैं उससे अनेक प्रकारकी वस्तुयें बनी हैं। मिट्टीके हिसाबसे वे सब एक अवश्य हैं किन्तु नामरूप उनको अलग कर देता है। उत्पत्तिसे पहले वे सब इसी मिट्टीमें गुप्त रूपसे थीं। किन्तु अब जब उनका विशेषरूप है तब वे अलग अलग हैं। मिट्टीका चूहा कभी मिट्टीका हाथी नहीं हो सकता। कारण, गढ़े हुए होनेपर विशेष आकृति ही उनकी विशेषता प्रकट करती है किन्तु आकृतिहीन मिट्टीके

---

* स ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपः।

विचारसे वे सब हैं एक ही। ईश्वर उसी पूर्ण, सत्यस्वरूपकी उच्चतम अभिव्यक्ति है अथवा ईश्वर मनुष्य-मनके लिये सर्वोच्च उपलब्धि है। सृष्टि अनादि है, ईश्वर भी अनादि है।

व्यासजी, वेदान्त सूत्रके चौथे अध्यायके चौथे पादमें यह वर्णन करके कि, मुक्ति पा जानेपर मुक्तात्मामें एक प्रकारकी अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान आ जाता है, फिर कहते हैं— 'किन्तु, कोई मुक्तात्मा जगत्के रचने, स्थित रखने और प्रलय करनेकी शक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।* क्योंकि, यह शक्ति केवल ईश्वरमें है, इस सूत्रकी व्याख्या करके द्वैतवादी भाष्यकार बड़ी सरलतासे यह दिखला सकते हैं कि परतंत्र जीवका ईश्वरकी अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकना कभी सम्भव नहीं है। घोर द्वैतवादी भाष्यकार मध्वाचार्यने इस सूत्रकी व्याख्यामें वराहपुराणसे एक श्लोक उद्धृत करके अपने विचारोंकी पुष्टि की है। इस सूत्रकी व्याख्यामें रामानुजका भाष्य इस प्रकार है—"यह सन्देह उपस्थित होता है कि क्या मुक्तात्माओंकी शक्तिमें परमपुरुष—परमात्माकी असाधारण शक्ति -संसारकी सृष्टि, स्थिति, प्रलय—और सर्व नियन्तृत्व सम्मिलित है? या केवल परमपुरुषका साक्षात् दर्शन पा लेना ही मुक्तात्माका ऐश्वर्य है?" इस प्रश्नको पुष्ट करनेके लिये कहा जा सकता है कि 'मुक्तात्माका जगत्का नियन्तृत्व प्राप्त

---

* जगद्व्यापार वर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

- ब्रह्म सूत्र अध्याय ४ सूत्र १७

कर लेना अधिक युक्तियुक्त है। क्योंकि, 'शुद्ध स्वरूप माया-रहित होकर मुक्तात्मा, परमात्माका परम एकत्व प्राप्त कर लेता है।' (मुण्डक उपनिषद्, ३।१। ३) इस शास्त्रवाक्यमें परमपुरुषके साथ मुक्तात्माका एक हो जाना कहा गया है। एक दूसरे स्थानपर यह भी कहा गया है कि मुक्तात्माकी सम्पूर्ण वासनायें पूरी होती हैं। अब सोचनेकी बात यह रही कि परम एकता और सम्पूर्ण इच्छाओंकी परिपूर्णता, परमपुरुषकी असाधारण शक्ति जगन्नियन्तृत्वके बिना नहीं हो सकती है। इसलिये परम एकता और सम्पूर्ण वासनाओंकी परिपूर्णताका अर्थ यही मानना पड़ेगा कि, मुक्तात्मा समूचे जगत्का नियन्तृत्व प्राप्त कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि, मुक्तात्मा केवल जगन्नियन्तृत्वके सिवा और सम्पूर्ण शक्तियां प्राप्त कर लेता है। जगत् नियमनका अर्थ है:—जगत्के प्रत्येक प्रकारके स्थावर जंगमके स्वरूप, उनकी स्थिति और उनको वासनाओंका नियन्तृत्व। मुक्तात्माओंमें यह जगन्नियमन शक्ति नहीं है। हां, उनका परमात्म-दृष्टिका पर्दा उठ गया है और ब्रह्मका उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। यही उनका एकमात्र ऐश्वर्य्य है। कैसे जाना? क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि निखिल जगत्का नियन्तृत्व केवल परब्रह्मका ही गुण है। 'जिससे सम्पूर्ण पदार्थोंका जन्म होता है, जिसमें सबकी स्थिति है और प्रलय होनेपर जिसमे सब प्रवेश करते हैं उसके जाननेकी इच्छा करो, वह ब्रह्म है।' यहां, नियन्तृत्व गुणके द्वारा ही ब्रह्मका वर्णन किया गया

है। यदि जगत्‌का नियन्तृत्व मुक्तात्माओंका साधारण गुण होता तो नियंतृत्व गुणके द्वारा ब्रह्मकी परिभाषा न की जाती, क्योंकि परिभाषाके लिये असाधारण गुणकी आवश्यकता होती है। इसलिये नीचे लिखे हुए शास्त्र-वाक्योंमें केवल जगन्नियन्ता परम-पुरुषका ही वर्णन किया गया है, मुक्तात्माओंके वर्णनमें यह बात नहीं पायी जाती कि, वे जगन्नियन्ता समझे जा सकें। शास्त्र-वाक्य ये हैं—'वत्स, आदिमें एकमेवा द्वितीयम्' था, उसने विचार किया कि एकसे अनेक हो जाऊं, उसने तेजको रचा। केवल ब्रह्म ही आदिमें था, सृष्टिके रूपमें वह परिणत हुआ, उसने क्षत्र नामक एक सुन्दर रूप रचा (वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि सब देवता क्षत्र हैं।) 'आदिमें आत्मा ही था, क्रियाशील और कुछ भी न था, उसने सोचा—मैं जगत्‌की रचना करूंगा, फिर उसने इस संसारको उत्पन्न किया।' 'एकमात्र नारायण ही था। ब्रह्मा, ईशान, आकाश, पृथ्वी, तारा, जल, अग्नि, सोम, सूर्य कुछ भी न था। वह अकेला सुखी न हुआ। ध्यानके पश्चात् उसके एक कन्या और दश इन्द्रियां उत्पन्न हुईं' 'जो पृथ्वीमें निवास करता हुआ भी पृथ्वीसे स्वतंत्र था, आरम्भ करके—जो आत्मामें निवास करके...'इत्यादि। *

किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत सृष्टादि परम पुरुषासाधारण सर्वेश्वरत्वमपि उत तद्रहितं केवल परम पुरुषानुभवविषयमिति संशयः, कि युक्त जगदीश्वर त्वमपीति कुतः निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति परम पुरुषेण परमसाम्यापत्ति श्रुतः सत्य संकल्पत्व श्रुतेश्च न हि परम साम्या सत्य संकल्पत्व सर्वेश्वरा

अगले सूत्रकी व्याख्यामें रामानुज कहते हैं कि यदि यह कहा जाय कि, उपरोक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि, वेदमें इसके

साधारण-जगद्व्यापार रूप जगन्नियमन विनोपपद्यते अतः सत्य संकल्पत्व परम साम्योपपत्तये समस्त जगन्नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमित्येव प्राप्त प्रचक्ष्महे जगद्व्यापार वर्जमिति जगद्व्यापारो निखिल चेतनाचेतन स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति भेदनियमनन्तद्वर्ज्ज निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याज ब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यं कुतः प्रकरणात निखिलजगन्नियमन हि परं ब्रह्म प्रकृत्या म्नायते। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' येन जातानि जीवन्ति यत प्रयन्त्यभि संविशन्तितद्विजिज्ञासस्वतद् ब्रह्मेति। यद्यतन्निखिल जगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात ततश्चेदं जगदीश्वरत्व रूपं ब्रह्म लक्षणं न संगच्छेत। असाधारणस्य हि लक्षणत्वं तथा सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीय तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजो सृजतेति ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्तदेकं सन्नव्यभवत तच्छ्रेयोरूपमत्य सृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत नान्यत किंचन मिषत् सऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाल्लोंकानसृजत इति। एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिव्यौ न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तरस्थस्यैका कन्या दशेन्द्रियाणि इत्यादिषु 'यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तर, इत्यारभ्य य आत्मनि तिष्ठन् इत्यादिषु वा निखिल जगन्नियमनं परमपुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयंत असन्निहितत्वाच्च, न चैतेषु निखिल जगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्य सन्निधानमस्ति येन जगद्व्यापारस्तस्यापि स्यात्।

—ब्रह्मसूत्र अ० ८ पा० ४ सूत्र १७

रामानुज भाष्य।

विपरीत अर्थवाले अनेक वाक्य हैं तो इसका उत्तर यह है कि यह उन मुक्तात्माओंके ऐश्वर्यका वर्णन है जो निम्न देवलोकोंमें वास करते हैं।* निस्सन्देह यह उत्तर बहुत ही सरल है। यद्यपि रामानुजने समष्टि—समुदाय—की एकता स्वीकार की है फिर भी उनकी रायमें इस समष्टिमें बहुतसे नित्य भेद हैं। यही कारण है कि उनको जीवात्मा और सगुण ईश्वरके भेदकी व्याख्या करनेमें कोई कठिनाई नहीं प्रतीत हुई।

अब अद्वैत-मतवादियोंकी व्याख्या देखनी चाहिये। देखना चाहिये कि इन्होंने द्वैतवादियोंको कैसे सन्तुष्ट किया है और साथ ही साथ मनुष्य-जातिकी अत्युच्च चरम गतिकी समतापर ध्यान रखकर किस प्रकार अपने सिद्धान्तोंका वर्णन किया है। जो मुक्त होकर भी अपने व्यक्तित्वको—अपने रूपको—बनाये रखना चाहते हैं; भगवानसे स्वतन्त्र रहना चाहते हैं; उनकी इच्छा पूरी होने और सगुण ब्रह्मका संभोग करनेका उन्हें यथेष्ट अवसर रहता है। इन्हींके सम्बन्धमें भागवतपुराणमें इस प्रकार कहा गया है।

"हे राजन्! भगवानमें इतने गुण हैं कि वे मुनि भी जो केवल अपने आत्मामें रमते हैं, जिनके सब बन्धन टूट चुके हैं भगवानके प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं।"

सांख्यमें इन्हीं मुक्तात्माओंको प्रकृति-लय कहा गया है।

---

* प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः
(ब्रह्मसूत्र ४, ४, १८)रामानुज भाष्य देखो।

सिद्धि प्राप्त करके अगले कल्पमें इन्हींमेंसे अनेक जगत्‌के शासन-कर्त्ता होकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु इनमें कोई कभी ईश्वरके समान नहीं हो सकता। जहां सृष्टि, सृष्ट और स्रष्टा नहीं है, जहां ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान नहीं है, जहां मैं, तुम और वह नहीं है, जहां प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण नहीं है "वहां कौन किसको देखेगा?" ऐसा व्यक्ति सबसे बाहर चला गया है। वह वहां पहुंच गया है "जहां मनकी गति नहीं, जिसके सम्बन्धमें शब्दों द्वारा कुछ विचार ही नहीं किया जा सकता।" श्रुतिने इसीका वर्णन 'नेति, नेति' कहकर किया है। किन्तु, जिन्होंने यह अवस्था नहीं प्राप्त की अथवा इस अवस्थाके प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं की वे उसी एक पूर्ण ब्रह्मको प्रकृति, आत्मा और इन दोनोंका अन्तर्यामी ईश्वर—तीन रूपोंमें देखेंगे। जब प्रह्लाद अपनेको भूल गया तब तो उसके सामने जगत् और जगत्‌का कारण कुछ न रहा; नाम और रूपकी उपाधि मिट गयी; सारा संसार एक अनन्त रूपमें प्रतीयमान होने लगा। किन्तु, ज्योंही उसे बोध हुआ कि मैं प्रह्लाद हूं, त्योंही जगत् और अशेष कल्याणकारी गुणोंके आधार-स्वरूप जगदीश्वर उसके सामने प्रकट हो गए। सौभाग्यशालिनी गोपियोंकी भी यही अवस्था हुई थी। जबतक वे अहमज्ञानसे शून्य थीं—वे अपनेको भूली हुई थीं—तबतक वे कृष्णरूपमें परिणत थीं; किन्तु जब उनके मनमें भेद-भाव उदय हुआ और वे उपास्य रूपसे कृष्णकी चिन्तना करने लगीं तब वे फिर गोपी-भावको प्राप्त हो गयीं।

उस समय "उनके सामने मुस्कुराते हुए, कमल मुखवाले, पीताम्बरधारी, माला पहने हुए, मन्मथके मनको भी मथन करनेवाले कृष्ण प्रकट हो गये।"*

अब आचार्य्य शंकरके कथनपर आइये। शंकर कहते हैं—'जिन्होंने सगुण ब्रह्मकी उपासना करके परमेश्वरके साथ एकता प्राप्त कर ली है और जिनका मन अव्याहत रहता है उनका ऐश्वर्य ससीम है या असीम? इस शंकाका समाधान करनेके लिये यह कहा जाता है कि, उनका ऐश्वर्य्य असीम है क्योंकि शास्त्रोंमें पाया जाता है—'उन्होंने स्वराज्य प्राप्त किया है', 'सब देवता उनकी पूजा करते हैं', 'सारे जगत्में उनकी कामना पूरी होती है'। इसके उत्तरमें व्यासजीने कहा है—जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदिके सिवा अणिमा आदि शक्तियां मुक्त प्राप्त करते हैं। जगत्का नियन्तृत्व केवल नित्यसिद्ध ईश्वरकी शक्ति है। क्योंकि सृष्टिके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें जितने वाक्य हैं सबमें नित्यसिद्ध ईश्वरका ही वर्णन है, वहां मुक्तात्माओंका कोई प्रसङ्ग नहीं है। जगत्के नियन्तृत्वमें केवल यह परम पुरुष ही नियुक्त है। सृष्ट्यादिके सम्बन्धमें जितने वाक्य हैं सबमें परम पुरुष ही लक्ष्य है। 'नित्यसिद्ध' यह विशेषण भी परमपुरुषके लिये ही आया है। शास्त्र कहते हैं, कि

* तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।
श्रीमद्भागवत, १० म स्कन्ध, ३२ वाँ अध्याय, द्वितीय श्लोक।

ईश्वरकी उपासना और खोज करनेसे ही अणिमादि शक्तियां प्राप्त होती हैं। इससे पता चलता है कि वे शक्तियां असीम नहीं हैं इसलिये जगत्के नियन्तृत्वमें मुक्तात्माओंका कोई स्थान नहीं है। फिर उनके अपने अपने मनके अस्तित्वके कारण यह संभव है कि प्रत्येककी भिन्न भिन्न इच्छायें हों—एक आत्माकी इच्छा सृष्टि रचनेकी है और दूसरेकी नाश करनेकी। इस संघर्षणसे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि सब इच्छायें एक इच्छाके अधीन हों। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि मुक्त पुरुषोंकी इच्छायें उसी एक परमपुरुषके अधीन हैं."*

इसलिये भक्ति सगुण ब्रह्मकी ही की जा सकती है। "देहा-

* ये सगुण ब्रह्मोपासनात् सहैव मनसेश्वर सायुज्यं व्रजन्ति, किन्तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित् सावग्रहमिति संशयः किं तावत् प्राप्तं निरंकुशमेवेषा मैश्वर्यं भवितुमर्हति, 'आप्नोति स्वराज्यं सर्वेस्मै देव बलि मावहन्ति तेषः सर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति इत्यादि श्रुतिभ्यः। इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते। जगद्व्यापार वर्ज्जमिति जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्ज्ज यित्यान्यद णिमाद्यात्मक मैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्ध-स्यैवेश्वरस्य। कुतः, तस्य तत्र प्रकृतत्वादसन्निहितत्वाच्चेतरेषां। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्याद्युपदेशान्नित्यशब्द-निबन्धनत्वाच्च, तदन्वेषण विजिज्ञासनपूर्वकमितिरेषामादिमदैश्वर्यं श्रूयते, तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे समनस्कत्वादेव चैषामनैकमत्येकस्यचित स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्रायः इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्। अथकस्यचित् संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्यत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामितिव्यवतिष्ठते।

—ब्रह्मसूत्र अ॰ ४ पा॰ ४ सूत्र १७ शांकर भाष्य

भिमानी व्यक्ति बड़े कष्टसे वह अव्यक्त-गति प्राप्त करते हैं।"*
भक्ति हमलोगोंमें प्रकृतिस्रोतके साथ सम भावसे बह रही है। हम ब्रह्ममें मानवीय भावके अतिरिक्त और किसी भावकी धारणा नहीं कर सकते। मानवीय ज्ञानके द्वारा हम ब्रह्मको जान सकते हैं। संसारके पदार्थ और उनसे हमारे सम्बन्धका बोध भी तो मानवीय ज्ञानके द्वारा ही हमको हुआ है। जगत्के सर्वोच्च मनोविज्ञानवेत्ता भगवान् कपिल सहस्रों वर्ष पहले कह चुके हैं कि हमलोगोंके बाहरी और भीतरी सब विषयोंके ज्ञान और धारणामें मानवीय ज्ञान ही एक उपादान है। शरीरसे लेकर ईश्वरतक विचार करनेपर स्पष्ट देख पड़ता है कि, मनुष्यकी अनुभूत सम्पूर्ण वस्तुयें ज्ञान और एक दूसरी वस्तुका मिश्रण हैं—यह दूसरी वस्तु कुछ भी हो, मिश्रण अवश्यंभावी है—जिसे मनुष्य सचराचर सत्य-जगत् कहकर पुकारता है। वास्तवमें वर्तमान और भविष्यमें मनुष्यको सत्यका जितना ज्ञान होना सम्भव है वह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये ईश्वरको मानव-धर्मक होनेके कारण असत्य कहना झूठी बड़बड़ है। यह विवाद पश्चिमी देशोंके विज्ञानवाद (Idealism) और सर्वास्तित्ववाद (Realism) के झगड़ेके समान है। यह विवाद सुननेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता है पर वास्तवमें इसकी नींव 'सत्य' शब्दके अर्थकी खींचा-तानीपर निर्भर है।

---

* अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं, देहवद्भिरवाप्यते।
—भगवद्गीता, अ० २, पंचमश्लोक।

सत्य शब्दके द्वारा ईश्वरीय भाव जितना समझा जाता है वह समस्त भाव व्यापी है। जगत्की अन्यान्य वस्तुयें जितनी सत्य हैं, ईश्वर भी उतना ही सत्य है। सत्य-शब्द इस स्थानपर जिस अर्थमें आया है, उस अर्थके अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं समझा जा सकता। ईश्वरके सम्बन्धमें हमारी यही दार्शनिक धारणा है।

प्रत्यक्ष अनुभव करना ही धर्म है

भक्तके लिये इन सब रूखे सूखे विषयोंके जाननेकी आवश्यकता केवल इसलिये है कि उसकी इच्छाशक्तिमें दृढ़ता आ जाय। क्योंकि वह एक ऐसे मार्गमें जा रहा है जो शीघ्र ही उसे युक्तियोंके कुहरेसे ढके हुए अशान्तिप्रद राज्यसे निकालकर प्रत्यक्षानुभूतिके सुन्दर राज्यमें पहुंचा देगा। ईश्वरकी कृपासे वह शीघ्र ही उस अवस्थाको पा लेता है जहां पाण्डित्याभिमानियोंकी प्यारी असमर्थ युक्तियोंकी पहुंच नहीं होती और बुद्धिकी सहायतासे अन्धकारमें टटोलनेके बजाय प्रत्यक्षानुभूतिका दिव्य प्रकाश झलझला रहा है। उस समय वह न विचार करता है, न विश्वास ही। वह एक प्रकारका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, फिर वह तर्क नहीं करता, प्रत्यक्ष करता है और यही भगवद्दर्शन, उसकी उपलब्धि, उसका सहवास संसारके अन्य सब विषयोंसे श्रेष्ठ

नहीं है। यही नहीं, अनेक भक्त तो ऐसे हैं जिन्होंने भक्तिको मुक्तिसे भी बढ़कर बतलाया है और क्या यह हमारे मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है? संसारमें ऐसे लोग हैं, और अधिक संख्यामें हैं जिनका यह निश्चय है कि जिसके द्वारा मनुष्यको पाशव-सुख मिल सके वही वास्तवमें प्रयोजनीय और उपयोगी है। धर्म हो चाहे ईश्वर, आत्मा हो चाहे परलोक, जिसके द्वारा धन नहीं मिलता और शारीरिक सुख नहीं मिलता वह बिलकुल बेकार है। इनके मनसे जिन चीजोंसे इनकी इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं होती, इनकी वासनायें पूरी नहीं होतीं वह सब व्यर्थ हैं। जिसका आग्रह जिस विषयमें अधिक रहता है उसीको वह अधिक लाभदायक समझता है। जो लोग खान, पान, सन्तानोत्पादन और फिर मृत्यु-इससे आगे नहीं बढ़ सकते वे इन्द्रिय-सुखमें ही अपना कल्याण समझते हैं। ऐसे लोगोंके हृदयमें उच्चतर विषयके लिये साधारण व्याकुलता उत्पन्न होनेमें भी अनेक जन्म लग जाते हैं; किन्तु, जो लोग जीवनके क्षणिक सुखोंकी अपेक्षा आत्माको उन्नत करना अच्छा समझते हैं, इन्द्रियोंकी परितृप्ति जिनकी दृष्टिमें केवल बच्चोंका खेल जान पड़ती है, वे भगवान और भगवत्प्रेमको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च और एकमात्र उद्देश्य समझते हैं। ईश्वरकी इच्छासे इस घोर इन्द्रिय-सेवियोंसे भरे हुए जगत्में भी, आज ऐसे महात्मा अलभ्य नहीं हैं।

भक्ति दो प्रकारकी है गौणी और परा। गौणीभक्तिका

दूसरा नाम साधन-भक्ति भी कहा जा सकता है। इसीकी परिपक्व अवस्थाका नाम पराभक्ति है। आगे मालूम होगा कि भक्तिमार्गमें आगे बढ़नेके लिये साधनावस्थामें जबतब कुछ बाहरी सहायता लिये बिना काम नहीं चलता। वास्तवमें प्रत्येक धर्मका पौराणिक और रूपक भाग अपने आप सामने आ जाता है और पहली अवस्थामें, भगवानकी ओर बढ़नेमें, साधककी सहायता करता है। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिन सम्प्रदायोंमें अनुष्ठानों और पौराणिक भावोंकी अधिकता है उन्हीं धर्म-सम्प्रदायोंमें ही बड़े बड़े धर्मवीरोंका जन्म हुआ है। यदि संसारके धर्मोंमेंसे वह भाग निकाल दिया जाय जो कवित्वमय है, सुन्दर है और महान् है, जो भगवानकी ओर बढ़नेमें लड़खड़ाते हुए सुकुमार मनके लिये दृढ़ अवलम्बन है, जो धर्मरूप छतको सँभालनेके लिये खम्भोंका काम दे रहा है, जो जीवनीशक्तिका संचारक है और आत्मारूप क्षेत्रमें धर्मकी बलिको बढ़ाने और परिपुष्ट करनेका कारण है—तो रह क्या जायगा? केवल शब्दोंका समूह और तर्कनाओंका ढेर। जिन लोगोंके धर्मका यह रूप बन जाता है, उनमें प्रकट और अप्रकट रूपसे अनेक जड़वादी होते हैं। उनके जीवनका लौकिक और पारलौकिक लक्ष्य केवल भोग रहता है। उनकी धारणाके अनुसार जगत्‌में स्वच्छन्दतापूर्वक वासनाओंको पूरा करना ही जीवनमें सब कुछ कर लेना है, ये अज्ञान और भ्रम-धारणाके पुजारी जितनी ही जल्दी प्रकट रूपसे नास्तिक और जड़वादी

दलमें मिल जायं, उतना ही अधिक संसारका मंगल है, क्योंकि पहरों प्रपञ्चभरी मूर्खतापूर्ण बातें करनेकी अपेक्षा क्षणभर भी धर्मका अनुष्ठान करना श्रेष्ठ है। अज्ञान और कट्टर जड़ताकी सूखी धूलि-धूसरित भूमिमें सोये क्या कभी अमित तेजस्वी धर्मवीर पैदा हुआ दिखा सकते हो? यदि नहीं, तो चुप रहो, हृदयके कपाट खोल दो, सत्यका विमल प्रकाश भीतर आने दो और जो बिना समझे कुछ नहीं कहते उन भारतीय महात्माओंके चरणोंमें बालककी भांति बैठकर जो कुछ वह कहते हैं उसे सुनो। आइये, वे क्या कहते हैं सो ध्यान लगाकर सुना जाय।

गुरुकी आवश्यकता

प्रत्येक जीवात्माको पूर्णता प्राप्त करनी ही होगी, अन्तमें सभी सिद्धावस्थाको पहुंचेंगे। हमारे जैसे पिछले विचार और कार्य्य थे वैसे इस समय हैं और इस समय हमारे जैसे विचार और कार्य्य होंगे वैसे हम आगे होंगे। यद्यपि हमारा भाग्यचक्र अपने आप आगे बढ़ता जा रहा है, फिर भी हमें सहायताकी आवश्यकता है। जब आवश्यक सहायता मिल जाती है तब आत्माकी उच्चतर शक्तियोंका, आत्माके आपात, अव्यक्त भावोंका विकास हो जाता है। साधकका आध्यात्मिक जीवन

सतेज हो जाता है, बड़ी शीघ्रतासे उसको उन्नति होती है और अन्तमें वह शुद्ध-स्वभाव और सिद्ध हो जाता है।

यह संजीवनी-शक्ति ग्रन्थोंसे नहीं मिलती। आत्मा केवल दूसरे आत्मासे ही यह शक्ति प्राप्त कर सकता है, और किसी प्रकार भी नहीं। कोई मनुष्य सारे जीवनभर पुस्तकें पढ़कर धुरन्धर विद्वान हो सकता है पर अन्तमें वह देखेगा कि उसकी आध्यात्मिक उन्नति कुछ नहीं हुई। क्योंकि बुद्धिकी उन्नतिके साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुआ करती। कभी कभी पुस्तकें पढ़ते पढ़ते लोगोंको भ्रम हो जाता है कि उनकी आध्यात्मिक उन्नति हो रही है, तब धीरजके साथ यदि वे विचार करें तो अन्तमें इसी परिणामपर पहुंचेंगे कि बुद्धि तो कुछ प्रखर हो गयी है; पर अन्तरात्माकी कुछ उन्नति नहीं हुई। प्राय: हमलोगोंमें आध्यात्मिक प्रसंगपर बड़ी निपुणताके साथ बातचीत करनेकी शक्ति होनेपर भी सच्चे धर्म-भावसे जीवन बितानेके समय बड़ी कमी पायी जाती है। कारण, ग्रन्थावलोकन आध्यात्मिक जीवनकी उन्नतिके लिये यथेष्ट नहीं है। जीवात्माकी शक्तिको बढ़ानेके लिये एक दूसरे आत्माकी शक्ति-संचारकी अवश्य आवश्यकता है।

जिस व्यक्तिके आत्मासे दूसरे आत्मामें शक्ति-सञ्चार होता है उसे गुरु कहते हैं और जिसके आत्मामें शक्ति सञ्चरित होती है उसे शिष्य। इस प्रकार शक्ति-संचारके लिये पहले शक्ति-सञ्चार करनेवालेमें सञ्चार करनेकी शक्ति होनी चाहिये और

जिस आत्मामें शक्तिका सञ्चार होगा उसमें भी ग्रहण करनेकी शक्ति रहना आवश्यक है। बीज पुष्ट और भूमि भली भांति जुती हुई होनी चाहिये। जहां ये दोनों ही बातें होती हैं वहां प्रकृत धर्मका अपूर्व विकास देख पड़ता है। धर्मका प्रकृत वक्ता भी अद्भुत होना चाहिये और उसके लिये श्रोता भी निपुण चाहिये।* जब दोनों ही अद्भुत और असाधारण होते हैं तभी अद्भुत आध्यात्मिक उन्नति होती है; अन्यथा नहीं। ऐसा मनुष्य ही वास्तविक गुरु है और इस प्रकारका मनुष्य ही वास्तविक शिष्य। और लोग धर्मको लेकर बच्चोंके से खेल खेलते रहते हैं। उन्हें कौतूहलमात्र रहता है, जाननेकी इच्छामात्र होती है, किन्तु वे अभी प्रकृत धर्मसे बाहर ही समझे जायंगे; हां, इसका भी कुछ मूल्य है क्योंकि समय पाकर इसीसे प्रकृत-धर्मकी प्यास पैदा हो सकती है। प्रकृतिका यह विचित्र नियम है कि जभी क्षेत्र उपयुक्त हो जायगा तभी बीज अवश्य आ जायगा और आता भी है। आत्माकी धर्म-पिपासा प्रबल होते ही धर्मशक्ति सञ्चारक पुरुष भी उस आत्माकी सहायताके लिये अवश्य आ जायगा, और आ ही जाता है। शक्ति ग्रहण करनेवाले आत्मामें जब धर्मके प्रकाशको खींच लेनेवाली शक्ति परिपूर्ण और प्रबल हो उठती है तब उसीके आकर्षणसे आलोक-दायिनी शक्ति खिंच आती है।

* आश्चर्य्यं वक्ताकुशलोऽस्य लब्धा इत्यादि।
—कठ उपनिषद, १ अध्याय, दूसरी वल्ली, प्रथम श्लोक।

किन्तु मार्गमें कुछ बड़े विघ्न हैं ; जैसे क्षणभरके भावोच्छ्वासमें वास्तविक धर्म-पिपासाके भ्रमकी संभावना। हम अपने ही जीवनमें इसका अनुभव कर सकते हैं। कई बार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य जिसको बहुत प्यार करता है उसके मरनेपर बहुत विकल हो जाता है, उसके जीमें गहरी चोट लगती है, वह सोचता है कि, जिसको पकड़ते हैं वही पल्ला छुड़ाकर भाग जाता है, जो इनसे उच्च और दृढ़तर है उसीको अपनाना चाहिये, हमें धर्मका आश्रय लेना चाहिये। किन्तु फिर कुछ ही दिनोंमें ये विचार न जाने कहां चले जाते हैं और वह मनुष्य जहां पहले था वहींका वहीं अपनेको पाता है। लोग इस प्रकारके भावोच्छ्वास—भावावेगको प्रकृत-धर्म-पिपासा समझकर बहुधा भ्रममें पड़ जाते हैं। किन्तु जबतक इन क्षणिक भावावेगोंको मनुष्य भूलसे सच्ची धर्म-पिपासा समझेगा तबतक धर्मके लिये उसके प्राणोंमें स्थायी व्याकुलता न उत्पन्न होगी और जबतक स्थायी व्याकुलता न उत्पन्न होगी तबतक शक्ति-सञ्चार करनेवाले पुरुषका भी साक्षात् न होगा। इसलिये जब किसीको जान पड़े कि सत्यको पानेके लिये उसने जितनी चेष्टायें कीं सब विफल हो गयीं तो उसे अपने हृदयके भीतर पैठकर यह सोचना चाहिये कि वहां सत्यको पानेके लिये कभी सच्चा आग्रह उत्पन्न हुआ था या नहीं। इस प्रकार अधिकतर अवसरोंमें उसे इस सच्चाईका ज्ञान हो जायगा कि उसमें अभी प्रकृत-धर्म-पिपासा उत्पन्न नहीं हुई और वह अभी सत्य-ग्रहण करनेके लिये उपयुक्त नहीं है।

फिर शक्ति-सञ्चारक गुरुके सम्बन्धमें और अनेक विघ्न हैं। बहुधा वे लोग जो स्वयं ज्ञानी हैं, अहंकारवश अपनेको सर्वज्ञ समझ बैठते हैं और दूसरोंके उद्धार करनेका दम भरते हैं। इसी प्रकार एक अन्धा दूसरे अन्धेको रास्ता दिखाता है, अन्तमें दोनों ही खाईमें गिर पड़ते हैं। "अज्ञानसे भरे हुए और अत्यन्त बुद्धिहीन होनेपर भी अपनेको महापण्डित समझकर मूढ़ लोग 'अन्धेको अन्धा राह दिखावे'के समान होकर प्रतिपदपर गिरते पड़ते और चारों ओर भटकते फिरते हैं।"* ये स्वयं आचार्य बननेवाले लोग ठीक उस मनुष्यके समान उपहासके पात्र हैं, जो 'आप मियां मांगना दुवारे दरवेश' की कहावत चरितार्थ करते हैं।

गुरु और शिष्यके लक्षण

तब गुरु पहचाना कैसे जाय? सूर्य्यको दिखानेके लिये मशालकी आवश्यकता नहीं होती। सूर्य निकलनेपर हम अपने आप जान लेते हैं, उसी प्रकार संसार-बन्धनसे छुटकारा दिलानेवाले गुरुके आगमनको आत्मा अपने आप समझ लेता है क्योंकि उसपर सत्य सूर्यका प्रकाश पड़ना

* अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः
जङ्घन्यमानाः परियन्तिमूढा, अन्धेनैव नीयमानाःयथान्धाः
—मुण्डक उपनिषद्, प्रथममुण्डक, द्वितीयखण्ड, अष्टम श्लोक।

आरम्भ हो जाता है। सत्य स्वतः प्रमाण है, उसे प्रमाणित करनेके लिये किसी साक्षीकी आवश्यकता नहीं। वह स्वप्रकाश है, वह हमारी प्रकृतिके अन्तस्तलमें प्रवेश करता है, उसके सामने समूचा संसार खड़ा होकर पुकारता है कि 'यही सत्य है'। जिन आचार्योंके हृदयमें ज्ञान और सत्य सूर्यके प्रकाशकी भांति जगमगाता है वे जगत्के सर्वोच्च महापुरुष हैं। जगत्के अधिकतर लोग उन्हें ईश्वर कहकर पूजते हैं। किन्तु प्रत्येक दशामें यह आवश्यक नहीं कि जो ज्ञानमें अधिक है, केवल वही आध्यात्मिक सहायता कर सके, अपनेसे कम ज्ञान रखनेवालोंसे भी मनुष्य आध्यात्मिक सहायता पा सकता है। अन्तर्दृष्टि न होनेके कारण लोग अपने आचार्यके सम्बन्धमें यथार्थ विचार नहीं कर सकते। इसलिये गुरु और शिष्य दोनोंके सम्बन्धमें थोड़ीसी परीक्षाकी आवश्यकता है।

शिष्यमें ये गुण होने चाहियें—पवित्रता, सच्ची ज्ञानपिपासा और अध्यवसाय। अशुद्ध आत्मा-पुरुष कभी सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता। मन, वचन और कर्मसे पवित्र हुए बिना कोई कभी धार्मिक नहीं हो सकता। ज्ञान-तृष्णाके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है, कि हम जो चाहते हैं, वही पाते हैं; यह एक सनातन सत्य है। हम जिस वस्तुको हृदयसे नहीं खोजते उसे हम नहीं प्राप्त कर सकते। धर्मके लिये सच्ची व्याकुलता बड़ी कठिन बात है। प्रायः हम उसे जितनी सहज समझते हैं वह उतनी सहज नहीं है। केवल धर्म-कथा सुनने और धार्मिक-

ग्रन्थ पढ़नेमात्रसे ही हृदयमें सच्ची धर्मभावना प्रबल हुई है, यह सिद्ध नहीं होता। जबतक प्राणीमें व्याकुलता न आये और वासनापर विजय न मिले तबतक अभ्यास और पाशविक-प्रकृतिके साथ निरन्तर संग्रामकी आवश्यकता है। यह दो एक दिनका काम नहीं है, कुछ वर्षों और कुछ जन्मोंका भी काम नहीं है, सैकड़ों जन्मोंतक यह संग्राम चल सकता है। थोड़े समयमें भी किसीको सिद्धि मिल सकती है। किन्तु यदि अनन्त समयतक राह देखनी पड़े तो धीरजके साथ उसके लिये भी तैयार रहना चाहिये। जो शिष्य ऐसे अध्यवसायके साथ साधनामें लग जाता है उसको निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है।

गुरु शास्त्रका मर्मज्ञ होना चाहिये। यों तो जगत्‌में सभी वेद, बाइबिल और कुरान आदि धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं, पर केवल पढ़नेसे—पाठ करनेसे - क्या होता है? ग्रन्थ तो शब्दोंके समूह-मात्र हैं, धर्मकी गिनतीकी सूखी हड्डियां हैं। जो गुरु केवल शब्दों-के चक्करमें पड़ा रहता है वह भावको खो देता है, जो शास्त्रोंका मर्म जानता है वही वास्तवमें धर्माचार्य्य है। शास्त्रोंका शब्दजाल एक महावनकी भांति है जिसमें मनुष्य अपनेको खो देता है और कुछ नहीं पाता। "शब्दजाल महा वनके सदृश है, यही चित्तके भ्रमणका कारण है।"* "शब्दयोजना, सुन्दर भाषा, वक्तृता और शास्त्रके मर्मकी व्याख्या करनेके भिन्न भिन्न उपाय—ये

---

* शब्दजालं महारण्यं, चित्तभ्रमणकारणं।
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ६२।

सब पण्डितोंके केवल विचार और आमोदकी बातें हैं, इनसे अंतर्दृष्टि विकसित नहीं होती।"†

जो लोग धर्मकी व्याख्याके समय इस प्रणालीसे काम लेते हैं वे केवल अपना पाण्डित्य दिखाना चाहते हैं, वे चाहते हैं कि लोग उन्हें महापण्डित समझकर उनका सम्मान करें। संसारका कोई भी प्रधान धर्माचार्य्य इस प्रकार शास्त्रकी अनेक प्रकारकी व्याख्या करनेमें अग्रसर नहीं हुआ। उन्होंने शास्त्रके श्लोकका मनमाना अर्थ निकालनेकी कभी चेष्टा नहीं की, वे शब्दार्थ और धात्वर्थके झगड़ेमें नहीं पड़े, फिर भी संसारको बड़ी सुन्दर शिक्षा दे गये हैं और जिनके पास कुछ सिखाने समझानेको नहीं होता वे एक शब्द लेकर उसीपर तीन खण्डका ग्रन्थ रच डालते हैं। इस शब्दका आदि क्या था, इसका व्यवहार सबसे पहले किसने किया, वह क्या खाता था, कितनी देर सोता था, इसी प्रकारकी बातें लेकर आलोचना किया करते हैं।

परमहंस रामकृष्णजी एक कहानी कहा करते थे—"एक बागमें दो मनुष्य घूमने गये, उनमें जो विशेष सांसारिक बुद्धि-वाला था वह तो बागके भीतर जाते ही आमके कितने पेड़ हैं, किस पेड़में कितने आम लगे हैं, कितनी डालियां हैं, प्रत्येक

---

† वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलं।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ६०।

डालीमें कितने पत्ते हैं, बागका कितना मूल्य हो सकता है—इत्यादि अनेक प्रकारकी बातें सोचने लगा और दूसरा मालिकसे बातचीत करके पेड़के नीचे बैठ गया और आम खाने लगा। वास्तवमें आम खानेहीसे पेट भरेगा, केवल पत्ते गिननेसे और हिसाब-किताब करनेसे नहीं। डालियों और पत्तोंका गिनना और उनकी संख्या दूसरोंको बताना व्यर्थ है। अवश्य इसकी उपयोगिता है किन्तु धर्मराज्यमें नहीं। जो लोग यों पत्ते गिनते फिरते हैं उनमें एक भी धर्मवीर न निकलेगा। धर्मके लिये—उस धर्मके लिये जो मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है और मनुष्यके सर्वोच्च गौरवका पदार्थ है—पत्ते गिननेके समान परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई भक्त होना चाहता है तो उसे—कृष्णने मथुरामें जन्म लिया या व्रजमें, उन्होंने क्या क्या किया, गीता ठीक किस दिन कही—यह सब जाननेकी आवश्यकता नहीं है। गीतामें जो कर्त्तव्य और प्रेमकी सुन्दर शिक्षा है, आग्रहके साथ उसीके अनुसार चलनेकी आवश्यकता है। उसके सम्बन्धमें या उसके रचयिताके सम्बन्धमें अन्यान्य बातें जाननेकी आवश्यकता केवल आमोदके लिये है। जो आम खाते हैं पत्ते नहीं गिनते। अस्तु, ऐसे वादविवादोंपर शान्तिः शान्तिः शान्तिः कहकर हम आगे बढ़ें।

दूसरे, गुरु निष्पाप होना चाहिये। बहुधा लोग कहते हैं—"गुरु क्या करते हैं और क्या नहीं करते—यह देखनेकी आवश्यकता नहीं है। वह हमें जो कुछ करनेके लिये कहते हैं, उसे

हमें करना चाहिये।" यह बात ठीक नहीं है। गति-विज्ञान, रसायन या दूसरे प्रकारका पदार्थ विज्ञान सिखलानेवाला कोई कैसा ही हो, उसके चरित्रसे सीखनेवालेका कुछ नहीं बनता बिगड़ता, क्योंकि वहां केवल बुद्धिको वृत्तियोंको सञ्चालित करना—बुद्धि-वृत्तियोंको कुछ सतेज करना—आवश्यक है किन्तु, अध्यात्म-विज्ञानके आचार्य्यका चित्त यदि अशुद्ध है तो उसके अन्तस्तलमें—हृदयके भीतर—धर्मका प्रकाश नहीं रह सकता। जिसका चित्त अशुद्ध है वह धर्म क्या सिखलायेगा? स्वयं आध्यात्मिक सत्य उपलब्धि करने, या दूसरोंके हृदयमें आध्यात्मिक सत्यका संचार करनेका एकमात्र उपाय है हृदय और मनकी पवित्रता। जबतक चित्त शुद्ध नहीं तबतक भगवद्दर्शन या उस अतीन्द्रिय सत्ता—परम और महान् सत्ता-का आभास भी सम्भव नहीं। इसलिये धर्माचार्य्यमें सबसे पहली बात जो देखनी आवश्यक है वह उनका चरित्र है। यह जान चुकनेपर कि वे किस चरित्रके मनुष्य हैं, यह देखना चाहिये कि वे क्या कहते हैं। आचार्य्यका पूर्ण प्रकारसे शुद्धचित्त होना आवश्यक है, क्योंकि इसी अवस्थामें उनकी बातोंमें सच्चा गुरुत्व रह सकता है, और वे सच्चे शक्तिसंचारक हो सकते हैं। जिसमें स्वयं शक्ति नहीं है, वह भला दूसरोंमें शक्तिका संचार क्या करेगा? गुरुका मन आध्यात्मिक प्रबलतासे इस प्रकार गति-मय होना चाहिये कि, केवल समवेदनाके कारण शिष्यमें शक्तिका संचार हो जाय। गुरुका यही सच्चा काम है। शक्ति-संचारका

तात्पर्य यह नहीं है कि शिष्यकी बुद्धि अथवा विवेचना-शक्ति मात्र उत्तेजित कर दी जाय। सारांश यह कि गुरुके द्वारा शिष्यमें शक्ति आती है इसलिये स्वयं शक्तिमान् होनेके लिये गुरुका शुद्धचित्त होना परमावश्यक है।

तीसरे यह देखना चाहिये कि गुरुका उद्देश्य क्या है। गुरु धन, नाम या यश आदि किसी स्वार्थके लिये तो धर्म-शिक्षा नहीं दे रहा है? समस्त मनुष्य-जातिके प्रति पवित्र प्रेम गुरुके कामोंका नियामक होना चाहिये। आध्यात्मिक शक्ति, केवल शुद्ध प्रेमके सूत्रसे ही सञ्चारित की जा सकती है। किसी प्रकारका भी स्वार्थपूर्ण भाव—लाभ होने या यश पानेकी इच्छा-क्षणभरमें इस सूत्रको तोड़ डालती है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं। जो भगवान्‌के प्रेम-स्वरूपको जान गये हैं वही पवित्रता प्राप्त करने और ईश्वरके जाननेकी शिक्षा दे सकते हैं।

यदि गुरुमें यह सब लक्षण मिल जायं तो समझ लेना चाहिये कि पूर्ण कल्याण होगा। जिस गुरुमें ये सब लक्षण नहीं उससे शिक्षा प्राप्त करना विपद्‌में पड़ना है। कहीं ऐसा न हो कि वह हृदयमें साधु-भावका सञ्चार तो कर न सके और असाधु-भाव भर दे। इस विपद्‌से बचनेके लिये पूरी सावधानी रहनी चाहिये। "जो विद्वान् है, निष्पाप है, कामनाहीन है वही श्रेष्ठ ब्रह्मविद् है।"* वही प्रकृत—सच्चा—सद्गुरु है।

* श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
—विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३४।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यह सहज ही मालूम हो जायगा कि धर्ममें अनुरागी होनेके लिये, धर्मका मर्म समझनेके लिये और समझकर उसे जीवनमें परिणत करनेके लिये उपयोगी शिक्षा साधारण गुरुके पास नहीं मिल सकती। "पर्वतोंका धर्मोपदेश, कलनादिनी नदियोंका ग्रन्थपाठ,* आदि वर्णन केवल अलंकारके विचारसे ठीक हैं, क्योंकि जिसके हृदयके भीतर अपरिस्फुट भावमें—कलीरूपमें—धर्मका बीज नहीं है उसे यह वर्णन तत्त्वज्ञान नहीं सिखा सकता। पर्वत, नदी आदि किसको शिक्षा दे सकते हैं? उसको, जिसके हृदयके भीतरका कमल खिल गया हो। अन्तस्तलका कमल जिस प्रकाशसे खिलकर अपना सुन्दर रूप दिखलाता है वह प्रकाश ब्रह्मज्ञानी सद्गुरुसे प्राप्त होता है। जब हृदय-कमल खिल जाता है तब पर्वत, नदी, तारा, सूर्य्य, चन्द्र आदि इस ब्रह्ममय विश्वमें जो कुछ है—इन सबसे शिक्षा ली जा सकती है। जिनका हृदय-कमल नहीं खिला उनको पवन केवल मिट्टी पत्थरका ढेर और नदी जल बहनेकी नाली देख पड़ती है। अन्धेका चित्रशालामें जानेसे क्या लाभ? पहले उसे आंखें देनी चाहिये फिर उससे यह आशा करनी चाहिये कि चित्रशालाकी

* And this our life exempt from public haunt,
Finds toungues in trees, books in the running brooks,
Sermon in stones and good in every thing.

—Shakespeare's As you like it, act II. se. I.

वस्तुओंको देखकर वह समझ सकेगा कि इनसे क्या शिक्षा मिल सकती है।

गुरु ही धर्म-शिक्षार्थीकी आंखें खोल देता है, आत्मीय जनोंके साथमें मनुष्यका जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध उसका गुरुके साथ भी है। हृदयमें धर्मका विकास होनेके लिये आवश्यक है कि गुरुपर पूर्ण विश्वास हो, उनकी आज्ञाका पूर्ण रूपसे पालन हो, उनके प्रति विनीत, नम्र व्यवहार हो और जीमें उनके लिये गम्भीर श्रद्धा हो। यह बात विशेष रूपसे विचारणीय है कि जहां, जिन देशोंमें, गुरु-शिष्यका ऐसा सम्बन्ध है वहीं असाधारण धर्मवीरोंका जन्म हुआ है। जिन देशोंमें गुरु-शिष्यका ऐसा सम्बन्ध नहीं है, गुरु वक्तामात्र हैं और केवल अपने लाभकी ओर दृष्टि रखते हैं तथा शिष्य भी केवल गुरुकी बातोंसे अपना मस्तिष्क भर लेते हैं और अन्तमें दोनों ही—गुरु और शिष्य—अपना अपना रास्ता पकड़ते हैं, उन देशोंमें धर्मके स्थानपर ढोंग है। न कोई शक्तिका संचार करनेवाला है और न कोई उसका ग्रहण करनेवाला। ये लोग धर्मको भी एक व्यवसाय समझते हैं और सोचते हैं कि धर्म भी धनसे मोल लेनेकी वस्तु है। यदि धर्म इतना सुलभ हो जाता तो बड़े सुखकी बात होती, परन्तु, दुर्भाग्यसे ऐसा नहीं है।

धर्म—वह धर्म जो सर्वोच्च और ज्ञान स्वरूप है—धनसे मोल लेनेका पदार्थ नहीं है, ग्रन्थोंसे भी वह नहीं मिलता। मनुष्य संसारका कोना कोना छान डाले, हिमालय, आल्पस, काकेशस

आदि पर्वतोंपर चढ़ जाय, समुद्रके अतल तलको मथ डाले, तिब्बतके चारों कोने और गोवी-मरुभूमिके चारों ओर भी रत्ती रत्ती ढूंढ़ डाले किन्तु धर्म—सर्वोच्च ज्ञान स्वरूप धर्म—तबतक उसे न मिलेगा जबतक वह अपने हृदयका उसे धारण करनेके योग्य नहीं बनाता और गुरु नहीं पा जाता। विधाता-निर्दिष्ट गुरु तभी पा सकेगा जब बालकके समान विश्वास और सरलतासे उनके सामने—गुरुके सामने—प्राण और हृदय खोलकर रख देगा और उन्हें साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझेगा। प्रेम और श्रद्धासे जो अपने मन-प्राण भरकर सत्यको खोजता है उसपर भगवान् सत्य, सदा रहनेवाला, शिवा, कल्याणकारी, सुन्दर, त्रुटिहीन, अलौकिक, और संसारसे परे—तत्त्वज्ञानको प्रकट करते हैं।

अवतार

जहां लोग उसका नामकीर्त्तन करते हैं वही स्थान पवित्र है। सोचिये जो व्यक्ति उसका नामोच्चारण करता है वह और कितना अधिक पवित्र है। ऐसी दशामें यह देखना चाहिये जिससे आध्यात्मिक शिक्षा मिलती है उसके सामने कितनी भक्तिसे जाना चाहिये। यह ठीक है कि जगत्में ऐसे सर्वश्रेष्ठ धर्माचार्य्योंकी संख्या बहुत कम है पर संसार ऐसे आचार्य्योंसे एकदम

शून्य नहीं है। जिस घड़ी जगत् बिलकुल आचार्य्यशून्य होता है उसी घड़ी वह एक भयानक नरककुण्डरूप बन जाता और विनाशकी ओर झुक जाता है। ये आचार्य्य मानव-जीवनके उद्यानमें मनोहर पुष्पके समान हैं और अहेतुक दयासिन्धु हैं*। श्रीकृष्णने भागवतमें कहा है—

'मुझे आचार्य्य समझना'†

साधारण गुरुओंकी अपेक्षा अधिक उन्नत गुरुओंकी एक और श्रेणी है जिन्हें ईश्वरका अवतार कहते हैं। ये स्पर्श अथवा केवल इच्छामात्रसे दूसरेके हृदयमें भगवत्-भावका सञ्चार कर सकते हैं। उनकी इच्छासे अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी क्षणभरमें साधु हो जाता है। ये समस्त गुरुओंके भी गुरु हैं, मनुष्योंमें भगवान्‌के श्रेष्ठस्वरूप हैं। हम इनको द्वाररूप बनाये बिना और किसी उपायसे भगवानको नहीं देख सकते। हम इनकी उपासना किये बिना नहीं रह सकते और केवल इन्हींकी उपासना करनेको हम बाध्य हैं।

इन सब नररूपधारी ईश्वरके सिवा भगवान्‌के देखनेका हमलोगोंके पास और कोई उपाय नहीं है। यदि हम और किसी रूपमें ईश्वरको देखना चाहें तो हम एक जैसाका तैसा जीव गढ़ डालते हैं और फिर उसीको प्रकृत ईश्वर मानते

* विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३५।
† आचार्य मां विजानीयात्।
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११ अ० १७ श्लोक २६।

हैं। कहावत है कि एक अनाड़ीने शिव गढ़ते गढ़ते बहुत दिनकी मेहनतके बाद एक बन्दर गढ़ा था। वैसे ही भगवान्के निर्गुण पूर्णस्वरूपपर हमलोग जितना ही विचार करते हैं उतनी ही असफलता होती है। यह क्यों? इसलिये कि जबतक हम मनुष्य हैं तबतक हम मनुष्यसे किसी उच्च रूपमें ईश्वरकी भावना नहीं कर सकते। समय आवेगा जब हम मनुष्य-प्रकृतिकी सीमासे आगे बढ़कर भगवान्का स्वरूप समझनेमें समर्थ हो जायंगे, परन्तु जबतक हम मनुष्य रहेंगे तबतक हमें मनुष्यके रूपमें ही भगवान्की उपासना करनी होगी। चाहे जो कुछ कहा जाय और चाहे जितनी चेष्टा की जाय, पर सच्ची बात तो यह है कि हममेंसे कोई भी मनुष्य-रूपको छोड़कर और किसी रूपमें भगवान्की भावना नहीं कर सकता। ईश्वरके सम्बन्धमें और संसारकी सब वस्तुओंके सम्बन्धमें मनुष्य खूब युक्ति और तर्क-भरी बातें कह सकता है, वह युक्तिवादका भारी पण्डित और महान् तार्किक हो सकता है; भगवान्के युक्ति और तर्कसे मनुष्य-अवतारकी सब कथायें भ्रमात्मक हैं—इसके ऐसे ऐसे प्रमाण पा सकता है कि जिनसे वह पूर्ण सन्तुष्ट हो सके—पर वह यह तो सोचे कि इन युक्तियों, तर्कनाओं और अद्भुत विचारोंसे अन्तमें उसके हाथ क्या लगता है। कुछ नहीं; केवल शून्य, वृथा वाक्याडम्बर। अवतार-पूजाके विरुद्ध जो व्यक्ति व्याख्यान फटकार रहा हो, बड़ी बड़ी युक्तियां और तर्क लोगोंके सामने रख रहा हो उसको यदि उसका हाथ पकड़कर

पूछा जाय कि भाई, ईश्वरके सम्बन्धमें तुम्हारी क्या धारणा है, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापिता आदि शब्दोंसे तुम क्या समझते हो, तो वह उत्तरमें कोई भी ऐसी बात न कह सकेगा जिस बातका मानवीय प्रकृतिसे सम्पर्क न हो। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापिता, आदि शब्दोंके सम्बन्धमें वह इन शब्दोंकी बनावटके अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, इन शब्दोंसे उसके मनमें कोई विशेष भाव नहीं उदय होता। वह उस मनुष्यसे भी गया बीता है जिसने एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी ; क्योंकि वह लम्बे चौड़े व्याख्यान झाड़कर समाजमें अशान्ति और दुःख फैलाता है। पर वह बेचारा है जो पुस्तक-ज्ञानसे कोरा है, शान्तस्वभाव है और जगत्की शान्ति नहीं भंग करता। उस वास्तविक प्रत्यक्षानुभूतिके बिना धर्मको धर्म ही न कहना चाहिये, इसलिये हमें व्यर्थकी बकवाद और प्रत्यक्ष अनुभूतिका प्रभेद समझना चाहिये। आत्माके गंभीरतम प्रदेशमें जो अनुभव होता है वही प्रत्यक्ष अनुभूति है, इस प्रत्यक्ष अनुभूतिका ज्ञान प्राप्त करना जितना कठिन है उतना और किसी बातका नहीं। हमारी वर्त्तमान प्रकृति ऐसी है कि हम ईश्वरको मनुष्यके रूपमें देखनेके लिये विवश हैं। यदि पशुओंके जीमें भगवान्‌की पूजा करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाय तो वे भगवान्‌का अपने ही आकार प्रकारके बड़े रूपमें देखेंगे; एक भैंसा ईश्वरको बड़े भारी भैंसेके रूपमें मानेगा और यदि मछली ईश्वरकी आराधना करना चाहेगी तो वह भगवानको एक बड़ी भारी मछलीके

रूपमें सोचेगा। उसी प्रकार मनुष्य भी भगवान्‌को मनुष्यके रूपमें मानेगा। मनुष्यको छोड़कर दूसरे प्राणियोंके लिये ईश्वरके सम्बन्धमें सोचनेकी बातको निरी ऊटपटांग कल्पना न समझनी चाहिये। मनुष्य, भैंसे, मछलियां आदि भिन्न भिन्न डील-डौलके सभी प्राणी भगवत्-समुद्रमें अपनी अपनी जल-धारण-शक्ति और आकृतिके अनुसार पूर्ण हैं। भगवत्-समुद्रके जलने मनुष्यमें मनुष्यका आकार धारण किया है, भैंसेमें भैंसेका और मछलीमें मछलीका। प्रत्येक पात्रमें उसी एक ईश्वर-समुद्रका जल भरा है। मनुष्य ईश्वरको मनुष्यके रूपमें देखेगा और अन्य प्राणी—यदि भगवान्‌के सम्बन्धमें कुछ भी उन्हें ज्ञान रहता है तो—अपनी अपनी धारणाके अनुसार ईश्वरको अपने ही आकार प्रकारका समझेंगे। मनुष्य-रूपको छोड़कर और किसी रूपमें मनुष्य ईश्वरकी भावना नहीं कर सकता। इसलिये हमलोगोंको मनुष्य-रूपमें ही ईश्वरकी उपासना करनी पड़ेगी, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

दो प्रकारके लोग भगवान्‌की उपासना मनुष्यके रूपमें नहीं करते। एक तो वे जिनकी गिनती मनुष्योंमें है पर जिनका जीवन पशुओंकासा है और जो धर्मज्ञानसे बिलकुल कोरे हैं। दूसरे वे जो परमहंस हैं, जो सम्पूर्ण मानव-दुर्बलताओंको नांघ कर मनुष्य-प्रकृतिकी सीमासे आगे बढ़ गये हैं, समूची प्रकृति ही जिनके लिये आत्म स्वरूप हो गयी है। सारांश यह कि महा अज्ञानी और परम ज्ञानी—दोनोंमें एक भी ईश्वरकी उपा-

सना नहीं करते। अज्ञानी मनुष्य नरपशु हैं, वे अज्ञानके कारण ईश्वरकी उपासना नहीं करते। जो परमज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष हैं वे अपने आत्मामें सदा परमात्माका अनुभव करते रहते हैं। उन्हें स्वतंत्र रूपसे ईश्वरकी उपासना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जो मनुष्य अज्ञानियों और परमज्ञानियोंके बीचमें है अर्थात् न तो निरा अज्ञानी है और न परमज्ञानी परन्तु भगवान्की उपासना मनुष्यके रूपमें नहीं करना चाहता तथा दूसरोंसे भी मनुष्यरूपमें भगवान्की उपासना न करनेके लिये कहता है वह प्रलापी है, उसकी बातें विचारवान पुरुषोंके सुनने योग्य नहीं हैं, वे उनके सुनने योग्य हैं जिनका मस्तिष्क बिगड़ गया है या जिनके मस्तिष्क है ही नहीं।

भगवान् मनुष्यकी दुर्बलता समझकर मानव-कल्याणके लिये मनुष्यरूपमें अवतार लेते हैं। "जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी बढ़ती होती है तब तब मैं अपनेको उत्पन्न करता हूं। साधुओंकी रक्षा, पापियोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग युगमें जन्म ग्रहण करता हूं।"* "अज्ञानी लोग मेरा-

* यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
गीता, अ० ४, श्लोक ७, ८।

जगदीश्वरका प्रकृत स्वरूप न जानकर मेरे मनुष्य-रूप-धारी शरीरकी हंसी उड़ाते हैं ।"*

भगवान् श्रीकृष्णने अवतारके सम्बन्धमें ये सब बातें गीतामें कही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण देव कहते हैं,—"जब भारी बाढ़ आती है तब छोटे छोटे नाले नदियां अपने आप किनारेतक—पूरी—भर जाती हैं।" जिस समय भगवान् अवतार लेते हैं उस समय अपने आप जगत्में एक महान् आध्यात्मिक तरंग उठती है और वायुमें धर्म भाव खेलना जान पड़ता है।

मन्त्र

सिद्ध आचार्य्योंको सदा शिष्योंके हृदयमें मंत्रद्वारा आध्यात्मिक ज्ञानका बीज बोना पड़ता है। वे मन्त्र क्या हैं? भारतीय दर्शनके मतसे सम्पूर्ण जगत् नाम-रूपात्मक है। इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड-स्वरूप मनुष्यके चित्तमें उठनेवाली एक भी तरङ्ग ऐसी नहीं हो सकती जो नाम-रूपात्मक न हो। यदि यह सत्य है कि प्रकृति सर्वत्र ही एक ही नियमसे निर्मित हैं तो इस नाम-रूपात्मकताको सारे ब्रह्माण्डका नियम कहना पड़ेगा। "जैसे मिट्टीके एक टुकड़ेको जान लेनेपर अन्य सम्पूर्ण मिट्टीको जाना जा सकता

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम्॥
गीता, अ॰ ९, श्लोक ११।

है* वैसे ही इस देह-पिण्डको जान जानेपर विश्व-ब्रह्माण्डको जाना जा सकता है। रूप बाहरी छिलकेके समान है और नाम अथवा भाव भीतर छिपे हुए गूदेके समान। शरीर रूप है और मन अथवा अन्तःकरण नाम है। इस नामके साथ वाक्‌शक्तियुक्त प्राणियोंके—मनुष्योंके—वाचक शब्दोंका अटूट सम्बन्ध है। मनुष्योंके भीतर चित्तमें जो चिन्ताकी लहरें उठती हैं वे पहले शब्द रूप होकर फिर स्थूल आकार धारण करती हैं।

विशाल ब्रह्माण्डमें भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ अथवा समष्टि महत् पहले अपनेको नाममें और फिर रूपमें अर्थात् इस दृश्य-मान्—दिखलाई देनेवाले—जगत्‌के रूपमे प्रकट करते हैं। यह व्यक्त और इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् ही रूप है, इसकी ओटमें अनन्त, अव्यक्त स्फोट है, स्फोटका अर्थ है सम्पूर्ण जगत्‌की अभिव्यक्तिका कारण शब्द-ब्रह्म। समस्त नाम अर्थात् भावका नित्य-समवायी उपादान स्वरूप नित्य-स्फोट ही वह शक्ति है जिससे भगवान् इस जगत्‌की रचना करते हैं। केवल इतना ही नहीं भगवान्‌ने पहले अपनेको स्फोट-रूपमें परिणत किया और फिर इस स्थूल दृश्य-मान् जगत्‌के रूपमें। इस स्फोटका एकमात्र वाचक शब्द ॐ है। जब यत्न करनेपर भी भावसे शब्दका अलग नहीं किया जा सकता तब इस ओंकार और इस नित्य स्फोटमें नित्य सम्बन्ध मिलता है। इसलिये यह बात बड़ी सरलतासे समझी

* यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् इत्यादि।
—छान्दोग्य, अ० ६, खण्ड १, श्लोक ४।

जा सकती है कि ओंकार-रूप सम्पूर्ण नाम-रूपका जनक है, इसी पवित्रतम शब्द ॐ से जगत्‌की रचना हुई है। यदि शङ्का करो कि शब्द और भावमें नित्य सम्बन्ध अवश्य है पर एक भावके प्रकट करनेवाले अनन्त शब्द हो सकते हैं, इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌की अभिव्यक्तिके कारणस्वरूप, सब भावोंको प्रकट करनेवाला केवल एक शब्द ओंकार ही है, यह कहना ठीक नहीं तो उत्तरमें कहा जा सकता है कि ओंकार ही इस प्रकार सर्वभावव्यापी वाचक शब्द है, और कोई शब्द इसके समान नहीं है। स्फोट सम्पूर्ण भावोंका उपादान है, फिर भी वह कोई पूर्ण विकम्पित भाव नहीं है। यदि भिन्न भिन्न भावोंके परस्पर भेदको दूर कर दिया जाय तो यही स्फोट ही शेष रहेगा और जब किसी वाचक शब्द द्वारा अव्यक्त स्फोटका प्रकाश करनेकी आवश्यकता होनेपर वह उसे इतना विशिष्ट कर देता है कि फिर उसका स्फोटत्व ही नहीं रह जाता, ऐसी दशामें जिस शब्द द्वारा वह बहुत हो अल्प परिणाममें विशेष भावापन्न हो और जो यथासंभव उसके स्वरूपको प्रकाशित करे वही उसका सबकी अपेक्षा प्रकृत वाचक है। ऐसा प्रकृतवाचक शब्द ओंकार—केवल ओंकार—है। क्योंकि अ, उ, म एक साथ 'अउम' इस प्रकार उच्चारित होनेसे सब प्रकारके शब्दोंके साधारण वाचक हो सकते हैं। 'अ' सभीमें अन्य अक्षरोंकी अपेक्षा अल्प विशेषता रखनेवाला अक्षर है। इसीलिये गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—'मैं अक्षरोंमें अकार हूं'

प्रत्येक स्पष्ट उच्चारण किया जानेवाला शब्द मुखमें जिह्वाके मूल-से लेकर होंठोंतक स्पर्श करके बोला जाता है। 'अ' का उच्चारण कण्ठसे होता है। 'म' ओष्ठ्य शब्दोंमें अन्तिम अक्षर है और 'उ' जिह्वा-मूलसे आरम्भ होकर होंठोंपर समाप्त होनेवाली शक्तिके पूर्ण भावका द्योतक है। प्रकृत-रूपसे उच्चारित होनेपर यह ओंकार सम्पूर्ण शब्दोच्चारण व्यापारका सूचक है और किसी शब्दमें यह शक्ति नहीं है। इसलिये ओंकार ही स्फोटका ठीक उपयोगी वाचक है और स्फोट ओंकारका प्रकृत वाच्य। वाचक और वाच्य अलग नहीं हो सकते। इसलिये ॐ और स्फोट एक ही पदार्थ हैं। स्फोट व्यक्त जगत्का सूक्ष्मतम अंश है, ईश्वरका अत्यन्त निकटवर्त्ती और ईश्वरीय ज्ञानका प्रथम प्रकाश है, इसलिये ओंकार ईश्वरका प्रकृत वाचक है। जिस प्रकार एक, अखण्ड, और सच्चिदानन्द ब्रह्मको अपूर्व जीवात्मा विशेष भाव और विशेष गुणवाले रूपमें देखते हैं उसी प्रकार साधक इस देह-रूप जगत्को भी मनोभावके अनुसार भिन्न भिन्न रूपमें पाते हैं।

उपासकके मनमें जिस समय जो तत्त्व प्रबल होता है उस समय उसमें वही भाव उदय होता है और फल यह होता है कि एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूपसे भिन्न भिन्न गुणोंकी प्रधानता वाला, भिन्न भिन्न देख पड़ता है और जगत् भी भिन्न भिन्न रूपोंमें प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार सबकी अपेक्षा अल्प विशेष भावापन्न सार्वभौमिक वाचक ओंकारमें वाच्य और

वाचकका घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान् और जगत्के विशेष विशेष खण्ड भावोंमें भी वाच्य और वाचकका अटूट सम्बन्ध है और इन सबके लिये विशेष विशेष वाचक शब्द होने आवश्यक हैं। महापुरुषोंकी गहरी आध्यात्मिक अनुभूतिसे उत्पन्न होकर ये वाचक शब्द यथासम्भव भगवान् और जगत्के उन्हीं विशेष विशेष खण्ड भावोंको प्रकाशित करते हैं। जैसे ओंकार अखण्ड ब्रह्मका वाचक है, वैसे ही दूसरे मन्त्र उसी परमपुरुषके खण्ड भावोंके वाचक हैं और भगवान्के ध्यानमें तथा प्रकृत ज्ञानके पानेमें सहायक हैं।

प्रतीक और प्रतिमा-उपासना

प्रतीकका अर्थ है वे सब वस्तुयें जो थोड़ी बहुत ब्रह्मके बदले उपासनाके योग्य होती हैं। भगवान् रामानुज कहते हैं,—"अब्रह्म वस्तुमें ब्रह्म मानकर, ब्रह्मके अनुसन्धानको प्रतीक उपासना कहते हैं।"* शंकराचार्य्यका कथन है,—"मनकी ब्रह्म स्वरूपसे उपासना करना आध्यात्मिक उपासना है और आकाशकी ब्रह्मरूपसे उपासना करना आधिभौतिक उपासना है।" मन आध्यात्मिक और आकाश बाह्य प्रतीक है—इन दोनोंकी ही ब्रह्मके बदले उपासना करनी होगी। इसी प्रकार आदित्य ही ब्रह्म है—यही

* अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानम्।

—ब्रह्मसूत्र, अ० ४, पाद १, सूत्र ५ रामानुजभाष्य।

आदेश है।'........'जो नामकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं'—इत्यादि स्थानोंमें प्रतीक-उपासनाके सम्बन्धमें संशय होता है।"* प्रतीक शब्दका शाब्दिक अर्थ है बाहरकी ओर जाना और प्रतीक-उपासनाका भाव है ब्रह्मके बदले एक ऐसी वस्तुकी उपासना करना जो एक अंशमें अथवा अनेक अंशोंमें ब्रह्मके अत्यन्त निकट हो, किन्तु ब्रह्म न हो। श्रुतियोंकी भांति पुराणोंमें भी प्रतीक-उपासनाका वर्णन है, समूची पितृ उपासना और देव-उपासना इसी प्रतीक-उपासनाके भीतर मानी जा सकती है।

ईश्वरकी उपासना—केवल ईश्वरकी उपासना—का नाम ही भक्ति है। देव, पितर अथवा और किसी उपासनाको भक्ति नहीं कहेंगे। भिन्न भिन्न उपासनायें कर्मकाण्डके भीतर हैं। वह उपासकको केवल किसी प्रकारका स्वर्ग-भोगरूपी फल देती हैं, किन्तु उससे भक्तिका उदय नहीं होता न वह मुक्ति ही दे सकती हैं। दार्शनिक दृष्टिसे परब्रह्मके सिवा दूसरी उपासना उच्चतर नहीं हो सकती। किन्तु अनेक बार उपासक प्रतीकको ब्रह्मके आसनपर बिठाकर उसे अपना आत्मस्वरूप मान बैठता है। किन्तु इससे

* "'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं। अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति।' तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः।' 'सत्य नाम ब्रह्मेत्युपासते इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः।"

— ब्रह्मसूत्र अ०४, पाद १, सूत्र ५ शांकरभाष्य।

वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि वास्तवमें प्रतीक कभी उपासकका आत्मा नहीं हो सकता। पर जहां केवल ब्रह्म उपास्य होता है और प्रतीक उसका प्रतिनिधिस्वरूप अथवा उद्दीपक कारणमात्र, प्रतीककी सहायतासे सर्वव्यापी ब्रह्मकी उपासना की जाती है, प्रतीकको प्रतीकमात्र नहीं समझा जाता वरन् जगत्‌का कारणरूप माना जाता है; वहां इस प्रकारकी उपासना विशेष उपकारी होती है। इतना ही नहीं प्रवर्त्तकोंके लिये तो इस प्रकारकी उपासना अनिवार्य्य रूपसे आवश्यक है। जिस उपासनामें किसी देवता अथवा अन्य किसी प्राणीको उस देवता और प्राणीके रूपमें ही देखा जाता है वह उपासना एक धर्ममात्र कही जा सकती है अथवा एक विद्या है जिसका फल उपासकको प्राप्त होता है। जब किसी देवता या अन्य किसी प्राणीकी उपासना उसे ब्रह्मरूपमें मानकर की जाती है तब उस उपासनाका फल ईश्वरकी उपासनाके समान होता है। इसीसे समझमें आ जाता है कि श्रुति, स्मृति आदिमें अनेक स्थानपर किसी देवता, महापुरुष अथवा अन्य किसी अलौकिक पुरुषके देवत्व, और महत्वको भुलाकर ब्रह्मरूपमें उसकी उपासना करनेको क्यों कहा गया है। अद्वैतवादी कहते हैं—'क्या नामरूपके सिवा अन्य सभी वस्तुयें ब्रह्म नहीं हैं?' और विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं—'वही प्रभु क्या सबका अन्तरात्मा नहीं है?' शंकरने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें कहा है—"सूर्य्य आदिकी उपासनाका फल ब्रह्म ही देता है क्योंकि वही सबका स्वामी है। जैसे प्रतिमामें

विष्णु आदिकी भावना की जाती है वैसेही प्रतीकमें ब्रह्मकी। प्रतीक-उपासना वास्तवमें ब्रह्म-उपासना है।" *

ऊपर जो कुछ प्रतीकके सम्बन्धमें कहा गया है वही-प्रतिमाके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। यदि प्रतिमा किसी देवता या साधुकी सूचकमात्र है तो इस उपासनासे भक्तिका जन्म न होगा और न मुक्ति मिलेगी। जब प्रतिमामें एक ईश्वर-की भावना होगी तो उसकी उपासनासे भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त होंगी। जगत्के प्रधान धर्मोंका प्रतिमा-पूजासे सम्बन्ध-है। वेदान्तको, बौद्धधर्मको, और ईसाईधर्मके अनेक सम्प्रदायोंको प्रतिमा-पूजनमें कोई आपत्ति नहीं। इन धर्मोंके माननेवाले नियमित रूपसे प्रतिमाका व्यवहार कर सकते हैं। केवल मुसलमान और प्रोटेस्टेण्ट धर्मवाले इसकी सहायता आवश्यक नहीं मानते। फिर भी मुसलमान अपने साधुओं तथा धर्मपर बलिदान होनेवालोंकी कब्रोंका एक प्रकारसे प्रतिमाके स्थानपर ही व्यवहार करते हैं। प्रोटेस्टेण्ट लोग बाहरी सहा-यताकी आवश्यकता नहीं मानते। इसका परिणाम यह हो रहा है कि वे दिन दिन आध्यात्मिक भावोंसे गिरते जा रहे हैं। आजकलके शुद्ध प्रोटेस्टेण्ट और केवल नीतिवादी अगस्ट

* फलेमादित्याद्युपासनेषु ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वं। ईदृशं चात्र ब्रह्मणः उपास्यत्वं यतः प्रतीकेषु तद्दृष्ट्याध्यारोपणं प्रतिमादिषु इव विष्णवादीनां।

—ब्रह्मसूत्र अ० ४, पाद १, सूत्र ५ शांकरभाष्य।

काम्टके शिष्य तथा अज्ञेयवादियोंमें कोई अन्तर नहीं है। ईसाई और मुसलमान-धर्ममें प्रतिमा-पूजनका जो अंश शेष है वह केवल प्रतीक और प्रतिमा-उपासना ही मात्र है। उस उपासनामें ब्रह्मदृष्टि नहीं है। वह केवल कर्मकाण्डके अन्तर्गत है। इसलिये इससे भक्ति या मुक्ति कुछ नहीं मिल सकती। इस प्रकारकी उपासनामें आत्मा ईश्वरसे भिन्न दूसरी वस्तुओंमें आत्म-समर्पण करता है। प्रतिमा, कब्र, मन्दिर आदिके ऐसे उपासक यद्यपि केवल पौत्तलिक हैं किन्तु उनकी यह पौत्तलिकता—एकांगी उपासना—कोई पाप-कर्म या अन्याय नहीं है, यह उपासना भी उन्हें उपासनाका फल अवश्य देती है।

इष्ट-निष्ठा

जो भक्त होना चाहता है उसे जानना चाहिये कि सब पथका ही नाम है, उसे जानना चाहिये कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें उस एक ही भगवानकी महिमाका भिन्न भिन्न रूपमें विकास है। "लोग तुम्हें कितने भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारते हैं, लोगोंने तुम्हें भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारकर मानों तुम्हारे टुकड़े कर डाले हैं, किन्तु, इस प्रत्येक नाममें मानों तुम्हारी पूर्ण शक्ति वर्त्तमान है। जो उपासक जिस भावसे उपासना करता है उसके लिये तुम उसी भाव-रूपमें प्रकाशमान होते हो। यदि आत्मामें तुम्हारे लिये सच्चा

अनुराग उत्पन्न हो जाय तो तुम्हें पुकारनेके लिये तुम्हें स्मरण करनेके लिये --कोई निर्दिष्ट समय नहीं है। तुम्हारे पास बहुत आसानीसे पहुंचा जा सकता है। किन्तु हमारा दुर्भाग्य कि, तुम्हारे लिये हृदयमें अनुराग नहीं उत्पन्न होता।" * केवल यही नहीं, भक्तोंको चाहिये कि विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रतिष्ठाता महातेजस्वी-ज्योतिकी किरणोंसे घृणा न करें, उनके दोषोंपर दृष्टि न डालें, सुनेंतक नहीं। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो उदार हैं, गम्भीर प्रेमसे पूर्ण हैं और दूसरोंके गुण देखनेमें समर्थ हैं। प्रायः देखा जाता है कि उदार भाववाले सम्प्रदाय भी प्रेमको गम्भीरताको खो बैठते हैं। उनके लिये धर्म भी किसी राजनीतिक और सामाजिक भावपूर्ण समितिके सदस्योंके कर्त्तव्यके समान हो जाता है। अत्यन्त संकीर्ण सम्प्रदाय अपने इष्टमें तो खूब भक्ति रखते हैं; परन्तु उनकी यह भक्ति दूसरे सम्प्रदायोंकी—जिनसे तनिक भी भेद है—घृणापर स्थापित है। यदि ईश्वरकी इच्छा होती और जगत् परम उदार और गम्भीर प्रेम-सम्पन्न लोगोंसे पूर्ण हो जाता तो क्या ही अच्छा होता! किन्तु ऐसे महात्माओंकी संख्या बहुत थोड़ी होती है और वे भी कभी कभी जन्म लेते हैं। फिर भी हमलोग जानते हैं कि जगत्में बहुतोंको गम्भीरता और उदारताके आदर्शोंसे शिक्षित करना सम्भव है

* नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्ति स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः। एतादृशी तव कृपा भगवन्, ममापि दुर्दैव मी दृशमिहाजनि नानुरागः॥ --श्रीकृष्ण चैतन्य

और इसका उपाय यही इष्ट-निष्ठा है। सब धर्म और सम्प्रदाय मनुष्यको केवल एक आदर्श दिखा देते हैं किन्तु सनातन वेदान्त-धर्मने भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेश करनेके लिये अनन्त द्वार खोल दिये हैं और मनुष्योंके सामने एक प्रकारसे असंख्य आदर्श स्थापित किये हैं। इन आदर्शोंमेंसे प्रत्येकमें उस अनन्त स्वरूपका विकास है। वेदान्त परम करुणावश होकर मुमुक्षु नर-नारियोंको वह मार्ग दिखला रहा है जो अतीत और वर्त्तमान कालमें महिमामय ईश्वरपुत्र या ईश्वरके अवतारों द्वारा मनुष्य जीवनकी वास्तविक घटनाओंके कठिन पर्वतोंको काटकर बनाया गया है। वेदान्त भुजा पसारकर सबको--मनुष्यमात्रको-उस सत्य-धाम और आनन्द-समुद्रमें आवाहन कर रहा है जहां आत्मा माया-जालसे मुक्त होकर सम्पूर्ण स्वाधीनता और अनन्त आनन्दमें उन्मत्त हो सकता है।

अतएव भक्तियोग भगवान्‌को पानेके भिन्न भिन्न मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गको भी घृणाकी दृष्टिसे देखने अथवा उसे अस्वीकार करनेसे रोकता है। तथापि जबतक पेड़ छोटा रहता है तबतक उसे रूंध रखना पड़ता है। अपूर्ण अवस्थामें एकदमसे अनेक प्रकारके भावों और आदर्शोंको सामने रखनेसे धर्मरूप कोमल लतिका सूख जायगी। अनेक लोग उदारताके नामपर अपने धर्ममें लगातार भाव-परिवर्त्तन करते चले जाते हैं, इससे वह अपना व्यर्थ कौतूहल निवृत्त करनेके सिवा और कोई लाभ नहीं उठाते। नित्य नयी बातें सुननेकी

बीमारीसी होती है, नशेकीसी आदत हो जाती है, नई बातें सुननेसे इनमें थोड़ी देरके लिये उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसके दूर होनेपर वे फिर और बातें सुननेको उत्सुक हो जाते हैं। उनके लिये धर्म अफीमके नशेके समान हो जाता है, और यहींतक इनकी पहुंच होती है। परमहंस रामकृष्णजी कहा करते थे—"समुद्रमें एक प्रकारकी सीप होती है जो सदा खुलेमुंह पानीके ऊपर तैरा करती है, किन्तु स्वाती नक्षत्रके जलकी एक बूंद उसके मुंहमें पड़ते ही वह मुंह बन्द करके तत्काल नीचे चली जाती है और फिर ऊपर नहीं आती; ठीक इसी प्रकार तत्त्वपिपासु विश्वासी साधक भी गुरुमंत्र रूप एक बूंद जल पाकर तत्काल साधनाके अगाध जलमें डूब जाता है और फिर किसी ओर नहीं देखता।" इस उदाहरणमें इष्ट-निष्ठाका भाव जैसी हृदयस्पर्शी अनूठी भाषामें प्रस्फुटित हुआ है वैसा और कहीं नहीं हुआ। प्रवर्त्तकमें यदि यह एकनिष्ठा नहीं है तो उसे सफलता नहीं हो सकती। सफलता चाहनेवालेको हनुमानकी यह युक्ति जान लेनी चाहिये कि —"यद्यपि लक्ष्मीपति और सीतापतिमें एक ही परमात्मा होनेके कारण अभेद है तो भी कमल-लोचन राम ही मेरे सर्वस्व हैं।"*
तुलसीदासने कहा है,—"सबके साथ बैठो, सबके साथ आनन्द करो, सबका नाम लो, सबकी बातमें हां हां करते रहो,

* श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्व्वस्वो रामः कमललोचनः॥

किन्तु अपना भाव दृढ़ रखो।"* जब साधकमें यह भाव आ जायगा और वह कपटहीन—शुद्ध—हो जायगा तब गुरुके दिये हुए बीजमंत्रके प्रभावसे पराभक्ति और परमज्ञानका विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होकर शाखाओंपर शाखायें और जड़ोंपर जड़ फोड़कर धर्मके लम्बे चौड़े क्षेत्रको पूर्ण रूपसे ढक लेगा। उसी समय प्रकृत भक्त देखेगा कि विभिन्न सम्प्रदायोंमे विभिन्न नाम और रूपसे उसीके इष्टदेवकी उपासना हो रही है।

भक्तिके साधन

भक्ति-प्राप्तिके उपाय और साधन—सम्बन्धमें भगवान् रामानुजने अपने वेदान्तभाष्यमें लिखा है -

"विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्षसे भक्ति प्राप्त होती है।"

विवेकका अर्थ रामानुजके मतमें खाद्याखाद्य—खाने और न खाने योग्य वस्तुओं—का विचार है। उनके मतसे खाद्य-द्रव्यकी अशुद्धिके तीन कारण हैं:—

१—जातिदोष अर्थात् प्रकृति-गत दोष जैसे लहसुन, पियाज आदि स्वभावतः अपवित्र हैं।

---

* सबसे मिलिये सबसे जुलिये, सबका लीजिय नाम।
हांजी हांजी करते रहिये, बैठिय अपने ठाम॥
—तुलसीदास

२—आश्रयदोष—पतित और अभिशप्त मनुष्यके हाथसे खानेमें जो दोष हैं।

३—निमित्त दोष—दूसरी अशुचि वस्तुओं—जैसे बाल, धूलि आदिके संस्पर्श—से उत्पन्न होनेवाले दोष।

इस स्थलपर रामानुजने छान्दोग्य उपनिषद्‌से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है:—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"

छान्दोग्य उप० प्र० ७, खण्ड २६।

अर्थात्, शुद्ध आहार करनेसे चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होनेसे सदा भगवान्‌का स्मरण किया जा सकता है।

इस खाद्याखाद्य-विचारको भक्तिमार्गवालोंने सदासे एक बड़ी बात समझी है। कई भक्त सम्प्रदायोंने तो इस विषयमें अस्वाभाविकतातक ला दी है किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इसके भीतर कुछ सचाई अवश्य है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सांख्यदर्शनके अनुसार सत, रज, तम—जिनकी साम्यावस्था प्रकृति है और जो विषम अवस्थाको प्राप्त होकर जगत् रूपमें परिणत होते हैं—प्रकृतिके गुण और उपादान दोनों हैं। इन्हीं सत, रज, तमसे नर-देह भी बनी है। इसलिये सतोगुण आध्यात्मिक उन्नतिके लिये अत्यन्त आवश्यक है। हम जो कुछ खाते हैं उसका प्रभाव हमारे मानसिक संगठनमें पड़ता है, इसलिये खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें हमें अधिक सतर्क रहना चाहिये; किन्तु अन्यान्य विषयोंकी भांति इस विषयमें भी शिष्य लोग

आचार्य्यसे सदासे जैसी कट्टरतासे काम लेते हैं उसे आचार्य्योंके मत्थे नहीं मढ़ना चाहिये। वास्तवमें खाद्यका शुद्धाशुद्ध विचार गौणमात्र है।

शंकरने अपने उपनिषद्-भाष्यमें ऊपरके वाक्यकी दूसरे ही प्रकारसे व्याख्या की है। आहार शब्दका अर्थ व्यवहारमें खाद्य-वस्तु है पर शंकरने यह अर्थ नहीं लिया। उनका कहना है—"जो कुछ आहृत होता है वही आहार है। आत्माके उपभोगके लिये शब्द आदि विषयोंका ज्ञान भीतर आहृत होता है। इस विषयानुभूतिरूप ज्ञानकी शुद्धिको आहारशुद्धि कहते हैं। इसलिये आहारशुद्धिका अर्थ है आसक्ति, द्वेष और मोह-शून्य होकर विषयोंका ज्ञान प्राप्त करना। ज्ञान अथवा 'आहार' शुद्ध होनेसे अन्तर-इन्द्रिय शुद्ध हो जायगी और अन्तर-इन्द्रियके शुद्ध होनेसे अनन्त पुरुषके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्राप्त हो सकेगा तथा उसे सदा स्मरण किया जा सकेगा।" *

ये दोनों व्याख्यायें देखनेमें यद्यपि विरोधी जान पड़ती हैं, पर दोनों ही सत्य और प्रयोजनीय हैं। सूक्ष्म-शरीर वा मनका

* आह्रियते इत्याहारः शब्दादि विषय विज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते। तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धिराग द्वेष मोह दोषैः असंसृष्ट विषयविज्ञान मित्यर्थः। तस्यामाहार शुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तःकरणस्य सत्वस्य शुद्धिर्नैर्म्मल्यं भवति। सत्व शुद्धौच सत्यां यथा वगते भूमात्मनि ध्रुवा विच्छिन्ना स्मृति रविस्मरणं भवति।

—छान्दोग्य उपनिषद्, सप्तम प्रपाठक, खण्ड २६

संयम स्थूल-शरीरके संयमसे निःसंदेह उच्चतर कार्य्य है। परन्तु सूक्ष्म शरीरका संयम करनेसे पहले स्थूल शरीरका संयम करना विशेष आवश्यक है। इसलिये प्रवर्त्तकको--साधनका अभ्यास प्रारम्भ करनेवालेको—आहारके सम्बन्धमें गुरु परम्परा-से प्रचलित नियमोंका पालन करना चाहिये। किन्तु आजकल हमारे बहुतसे सम्प्रदायोंमें इस आहार-विचारने इतने हाथ-पैर फैला लिये हैं, इतने व्यर्थ नियमोंका बंधन हो गया है, इस विष-यमें इतनी कट्टरता आ गयी है मानों उन्होंने धर्मको चौकेमें कैद कर दिया है। कभी उस धर्मकी महान् सत्यता वहांसे निकालकर आध्यात्मिक सूर्य्यके प्रकाशमें चमकेगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। ऐसा धर्म तो एक विशेष प्रकारका कोरा जड़वाद है, वह ज्ञान नहीं है, न भक्ति ही है और न कर्म ही; एक विशेष प्रकारका पागलपनमात्र है। जिन्होंने इस खाद्याखाद्य विचारको ही अपने जीवनका सार कार्य्य मान रखा है उन्हें ब्रह्मलोककी तो नहीं, हां, पागलखानेकी प्राप्ति होनी अधिक सम्भव है। जो हो युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि खाद्याखाद्यका विचार मनकी स्थिरतारूप उच्च अवस्थाकी प्राप्तिके लिये विशेष आवश्यक है। अन्यथा यह स्थिरता सहजमें नहीं प्राप्त होती।

विमोक—विमोकका अर्थ है इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर जानेसे रोकना और उनका संयम करके अपनी इच्छाके वश करना और यह सब धर्म-साधनोंकी जड़ है।

अभ्यास—आत्मसंयम और आत्मत्यागका अभ्यास करना।

हमलाग अपने आत्मामें परमात्माको अनेक रूपसे अनुभव कर सकते हैं और अनेक गम्भीर भावोंसे उसका सम्भोग कर सकते हैं, किन्तु साधकको प्राणपणकी चेष्टा और प्रबल संयमके बिना वह कार्यमें नहीं परिणत हो सकता। 'मन जिसमें सदा उसी ईश्वरकी चिन्तामें लगा रहे' पहले पहल इसमें बड़ी कठिनाई हाती है। किन्तु लगातार परिश्रमसे चेष्टा करनेपर यह चिन्तनाशक्ति धीरे धीरे बढ़ जाती है। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—"हे अर्जुन, अभ्यास और वैराग्यके द्वारा यह प्राप्त होती है।"*

क्रिया—क्रियासे तात्पर्य यशसे है पञ्चमहायज्ञोंका नियमित रूपसे अनुष्ठान करना चाहिये।

कल्याण-कल्याणका अर्थ पवित्रता है। इसी पवित्रताकी नींवपर भक्तिका प्रासाद खड़ा है।

वाह्यशौच—बाहरी इन्द्रियोंकी पवित्रता और खाद्याखाद्य वस्तुओंका विचार—अन्तःशुद्धिके बिना इन दोनोंका कोई मूल्य नहीं है। रामानुजने अंतःशुद्धिके लिये जिन गुणोंका होना आवश्यक बतलाया है वे ये हैं—

१—सत्य।

२—सरलता।

३—दया—अर्थात् निःस्वार्थ परोपकार।

४—दान।

* अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—गीता, अ० ६, श्लो० ३५।

५—अहिंसा—मन, वचन और शरीरसे—किसी प्रकारसे भी—दूसरेको कष्ट न देना।

६—अनभिध्या—दूसरेके धनका लोभ और वृथा चिन्ता न करना एवं दूसरेके द्वारा की हुई बुराईको भूल जाना।

इस तालिकामें' अहिंसाके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक है, सभी प्राणियोंके लिये अहिंसाभाव बरतना चाहिये।

कुछ लोगोंका खयाल है कि मनुष्य-जातिके प्रति ही अहिंसा बरतना यथेष्ट है, दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करनेसे कोई हानि नहीं, वास्तवमें यह अहिंसा नहीं है। कोई कोई कुत्ते बिल्लीका पालन करते हैं, चीटियोंको चीनी खिलाते हैं, लेकिन अपने भाईका गला काटनेसे भी नहीं हिचकते, यह भी अहिंसा नहीं है। यह बात विशेष रूपसे विचारने योग्य है कि जगत्में जितने महत् भाव हैं उनका अनुष्ठान यदि देश, काल और पात्रका विचार किये बिना अन्धभावसे किया जाय तो वे स्पष्ट दोष हो जाते हैं। कई धर्म-सम्प्रदायोंके मैले साधु इस लिये स्नान नहीं करते कि, स्नान करनेसे उनके शरीरके कीड़े मर जायंगे। पर इससे उन्हींके भाइयोंको कितने रोग और दुःख भोगने पड़ते हैं इसपर उनकी दृष्टि बिल्कुल नहीं पड़ती, ये वैदिक धर्मावलंबी नहीं हैं।

जब किसीके हृदयमें ईर्षाका भाव बिलकुल ही न पाया जाय तब समझना चाहिये कि उसके हृदयमें अहिंसाके भावकी स्थापना हो चुकी है। सामयिक उत्तेजना, तथा किसी प्रकारके कुसं-

स्कार या पुरोहितोंकी प्रेरणासे प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई अच्छा काम या दान धर्म कर सकता है। यथार्थ लोकप्रेमी वही है जो अपने मनमें किसीसे भी ईर्षा नहीं रखता। संसारमें साधारणतः जो लोग बड़े आदमी कहलाते हैं वे थोड़ेसे नाम, यश या टुकड़े दो टुकड़े सोनेके लिये आपसमें ईर्षा करते हैं। जबतक हृदयमें यह ईर्षाभाव भरा है तबतक अहिंसासिद्ध सफलता बहुत दूर है। गाय, बैल और भेड़ आदि निरामिष भोजी हैं इससे क्या वे परमयोगी या बड़े भारी अहिंसक कहलावेंगे? कोई भी मूर्ख यदि चाहे तो किसी विशेष वस्तुका खाना छोड़ सकता है किन्तु जैसे उद्भिद् भोजन करनेवाले जीव केवल उद्भिद् भोजन करनेके कारण विशेष उन्नत पदवीको नहीं पहुंच जाते वैसे ही वह मूर्ख भी किसी वस्तु-विशेषका खाना छोड़ देनेपर ज्ञानी नहीं हो सकता। जो मनुष्य निर्दयतासे विधवाओं तथा अनाथ बच्चोंको ठग ले सकता है और धनके लिये कोई भी बुराई उठा नहीं रखता वह यदि केवल घास खाकर भी जीवन बितावे तो भी वह पशुसे भी गया बीता है; किन्तु जिसके हृदयमें कभी दूसरेकी बुराईकी भावनातक नहीं उठती, जो केवल मित्रोंके ही नहीं, बल्कि शत्रुओंके सुखसे भी आनन्दित होता है, वह यदि जन्मभर शूकर-मांस खाता रहे तो भी प्रकृत भक्त, प्रकृत योगी और सबका गुरु है। इसलिये यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बाहरी क्रियायें केवल अंतःशुद्धिकी सहायकमात्र हैं। जहां

तनिक तनिकसी बाहरी बातोंका निर्भाव असम्भव हो वहां केवल भीतरी पवित्रताका सहारा लेना ही यथेष्ट है। उस मनुष्य और उस जातिको धिक्कार है जो धर्मके सारको भूलकर अभ्यासवश बाहरी अनुष्ठानोंमें जकड़ी रहती है। बाहरी अनुष्ठान तभी उपयोगी कहे जा सकते हैं जब वे आध्यात्मिक जीवनमें सहायक हों। यदि वे निर्जीव हों उनमे आन्तरिकता न हो तो बेखटके उन्हें उखाड़ फेंकना चाहिये।

'अनवसाद' वा बल भी भक्ति लाभका एक और साधन है।* श्रुतिमें कहा है कि 'बलहीन व्यक्ति उसको नहीं प्राप्त कर सकता।' यहां शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकारकी दुर्बलता—ली गयी है। दृढ़ और बलवान व्यक्ति ही सच्चा शिष्य बन सकता है। दुर्बल, क्षीणकाय और जराजीर्ण व्यक्ति क्या साधन करेगा? शरीर और मनके भीतर जो अद्भुत शक्तियां छिपी हैं यदि योगका अभ्यास करनेसे किंचित् परिमाणमें भी वे शक्तियां जाग्रत हुईं तो दुर्बल व्यक्ति एकदम नष्ट हो जाता है। युवा, स्वस्थ, सबल व्यक्ति ही सिद्ध हो सकता है; इसलिये शारीरिक बलके बिना काम नहीं चल सकता। इन्द्रिय-संयमकी प्रतिक्रियाको अत्यन्त सबल देह ही सहन कर सकती है। इसलिये जो भक्त होना चाहे उसे सबल और स्वस्थ शरीरका होना आवश्यक है। जो अति दुर्बल हैं वे यदि किसी प्रकारके योगाभ्यासकी चेष्टा करें तो या

* नायमात्मा बलहीनेनलभ्यः।

—मुंडकोपनिषद्, ३, २, ४

तो वे किसी असाध्य रोगमें फंस जायंगे या मनको अत्यन्त ही निर्जीव बना लेंगे। भक्ति और ज्ञान प्राप्तिके लिये इच्छापूर्वक शरीरको दुर्बल करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जिसका चित्त दुर्बल है वह भी आत्म-प्राप्तिमें कृतकार्य्य नहीं होता। जो भक्त होना चाहता है उसे सदा प्रसन्न रहना चाहिये। पश्चिमी जगत्में, आदर्श धार्मिकका यह लक्षण है कि वह कभी हंसे नहीं, उसका मुख सदा विषाद-मेघसे ढका रहे। वह उदास और खिन्न आकृतिमें रहता है। किन्तु शुष्क शरीर और उदास मुंहवाला व्यक्ति वैद्योंके कामका भले ही हो, योगी नहीं हो सकता। जिसका चित्त सन्तुष्ट है वही अध्यवसायशील हो सकता है। दृढ़चित्तवाला ही सहस्रों विघ्न बाधायें लांघकर आगे बढ़ सकता है। मायाके दुर्भेद्य जालको भेदन करना महा कठिन कार्य है और यह केवल उन्होंके द्वारा सम्भव है जो महा-वीर हैं।

लेकिन इससे यह नहीं कि खूब मौज की जाय। अधिक हास्य या कौतुक हमें गम्भीर चिन्तामें असमर्थ कर देते हैं, इनमें मानसिक शक्तियोंका व्यर्थ ह्रास होता है, इच्छाशक्ति जितनी ही दृढ़ होती है अनेक प्रकारके भावोंसे —चिन्ताओंसे— उतनी ही वह कम विचलित होती है। दुःख उत्पन्न करनेवाले गम्भीर भाव जैसे बुरे हैं वैसे ही अधिक आमोद भी बुरा है। जब मन पूर्णरूपसे सम, स्थिर और शान्त हो जाता है तभी पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव होती है।

इन सब साधनोंसे क्रमशः ईश्वरभक्ति उदय होती है।

पराभक्ति-त्याग

गौणी भक्तिकी चर्चा समाप्त करके अब पराभक्तिका वर्णन किया जाता है। यहां पराभक्तिके अभ्यासकी तैयारीके एक विशेष साधनकी बात कहनी है। सभी साधनोंका उद्देश्य आत्मशुद्धि है। नाम-स्मरण, प्रतीक-प्रतिमा आदिकी उपासना तथा अन्यान्य अनुष्ठान केवल आत्मशुद्धिके लिये हैं। किन्तु आत्म-शुद्धिके जितने साधन—उपाय—हैं उन सबमें त्याग ही सबसे बढ़कर है। उसके बिना कोई पराभक्तिके राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकता। बहुतोंको त्याग बहुत भयावना मालूम हो सकता है, किन्तु इसके बिना किसी प्रकारकी भी आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं है। सभी योगोंमें यह त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही धर्मकी सीढ़ी है, सब साधनोंका अन्तरङ्ग साधन है। त्याग ही वास्तविक धर्म है। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि मैं जड़देहमें बंधकर जड़ होता जा रहा हूं और धीरे धीरे विनाशकी ओर बढ़ रहा हूं तब वह जड़ पदार्थोंसे अपनी दृष्टि हटा लेता है, संसारकी सम्पूर्ण वस्तुयें दूर फेंककर गम्भीर तत्वकी खोजमें लग जाता है, उसी समय त्यागका आरम्भ होता है और प्रकृत आध्यात्मिक उन्नतिका श्रीगणेश होता है। कर्मयोगी सारे कर्मफलको त्याग देता है, वह जितने कर्म करता है उनके फलमें आसक्त नहीं होता। उसे यहांके या वहांके—

लोकके या परलोकके—कहींके किसी भी लाभकी आकांक्षा नहीं होती। राजयोगी समझता है कि प्रकृतिका लक्ष्य पुरुष या आत्माको विचित्र सुख-दुखका अनुभव कराना है और इसका फल प्रकृतिका अपनी नित्य स्वतंत्रताका ज्ञान है। मानवात्माको जानना पड़ेगा कि वह अनन्त कालसे आत्मस्वरूप ही था और भूतोंके साथ उसका संयोग केवल सामयिक और क्षणिक है, राजयोगी प्रकृतिके सारे सुख-दुःखोंको भोगनेपर ठग जानेके बाद वैराग्य सीखता है। ज्ञानयोगीका वैराग्य सबसे कठिन है। क्योंकि उसे पहलेहीसे इस सत्यसी जान पड़नेवाली प्रकृतिको—जगतको—मिथ्या समझना पड़ता है। उसे पहलेहीसे जानना पड़ता है कि प्रकृतिमें जितनी शक्तियां प्रकाशमान हैं वे सब शक्तियां आत्माकी हैं, प्रकृतिकी नहीं। सब प्रकारका ज्ञान आत्मामें है, प्रकृतिमें कुछ भी नहीं है। इसलिये उसे केवल विचारजनित धारणाके बलसे एकबारगी प्रकृतिके सब बन्धनोंको तोड़ना पड़ता है। प्रकृति और प्रकृतिके समस्त पदार्थोंकी ओर वह देखता ही नहीं। ये सब बाजीगरके खेलकी तरह उसके सामनेसे गायब हो जाते हैं, वह स्वयं कैवल्य पदमें स्थित होनेकी चेष्टा करता है।

सब प्रकारके वैराग्यसे भक्तियोगीका वैराग्य विशेष स्वाभाविक है। इसमें कोई कठोरता नहीं है, न कुछ छोड़ना ही पड़ता है। इसमें कोई वस्तु छीनी नहीं जाती। भक्तका त्याग बहुत सहज और स्वाभाविक है। यह त्याग विकृत रूपमें चारों ओर

दिखलायी पड़ता है। कोई पुरुष किसी स्त्रीसे प्रेम करता है, अब यदि वही पुरुष कुछ दिनोंके बाद किसी दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगा तो पहली स्त्रीकी चिन्ता बड़े धीर भावसे क्रमशः उसके मनसे दूर हो गयी। उसे फिर पहली स्त्रीके अभावका क्लेश नहीं अखरा। कोई स्त्री किसी पुरुषसे प्रेम करती है, कुछ दिनों बाद वही स्त्री जब किसी दूसरे पुरुषको चाहने लगती है तो पहला पुरुष अति सहजमें उसके मनसे अलग हो जाता है। जो व्यक्ति पहले अपने नगरसे प्रेम करता है वह जब देशसे प्रेम करना आरम्भ करता है तो उसके हृदयसे छोटेसे नगरका प्रगाढ़ प्रेम अपने आप चला जाता है। इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण जगतसे प्रेम करना सीख लिया है उसके जीमें फिर केवल अपने देशके लिये प्रबल उन्मत्त प्रेम नहीं रह जाता और इस प्रेमके दूर होनेमें उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। इस प्रेमको दूर करनेमें उसे हाथापाई नहीं करनी पडती। अशिक्षित मनुष्य इन्द्रिय-सुखमें पागल रहता है, यदि वह शिक्षित हो जाय तो फिर उसे ज्ञान-चर्चामें जितना सुख मिलेगा उतना विषय-भोगमें नहीं। कुत्ते बाघ आदि पशु आहार पाकर जैसी चाहसे—तत्परतासे—उसे खाते हैं उस तत्परतासे मनुष्य भोजन नहीं कर सकता और मनुष्य बुद्धिके बलसे अनेक विषयोंका ज्ञान प्राप्तकर और अनेक काम करके जो सुख अनुभव करता है वह सुख कुत्तेको स्वप्नमें भी नहीं अनुभव होता। पशु पहले इन्द्रिय-सुख अनुभव करते हैं, परन्तु जब उन्नत हो जाते हैं तो नीची श्रेणीके सुखोंके लिये

उतना लालायित नहीं रहते। मनुष्य-समाजमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जितना ही पशुतुल्य होता है वह इन्द्रियसुखको उतनी ही तीव्रतासे अनुभव करता है और जितनी ही उसकी शिक्षादिकी उन्नतिकी जाय उतनी ही बुद्धिकी परिचालना और इस प्रकारके सूक्ष्मसूक्ष्म विषयोंमें उसे सुख अनुभव होने लगेगा। इसी प्रकार जब मनुष्य बुद्धि और मनोवृत्तिसे परे स्थलमें पहुंचता है, जब वह आध्यात्मिकता और भगवत्-तत्त्वानुभूतिकी सीढ़ियोंपर पहुंचता है, उस समय उसे जो आनन्द प्राप्त होता है उसके सामने इन्द्रियजनित अथवा बुद्धिजनित सुख शून्यके बराबर हो जाता है। चन्द्रमा जब उज्ज्वल रूपमें अपनी किरणें फैलाता है तब तारागण प्रभाहीन हो जाते हैं और फिर जब सूर्यका प्रकाश होता है तब चन्द्रमा भी प्रभाहीन हो जाता है। भक्तिके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है वह वैराग्य किसीको नाश करके नहीं उत्पन्न होता। जिस प्रकार क्रमसे बढ़नेवाले प्रकाशके सामने अल्प प्रकाश अपने आप निष्प्रभ होकर अत्यन्त निष्प्रभ हो जाता है और अन्तमें एकबारगी ही अन्तर्हित हो जाता है वैसे ही भगवत्प्रेमकी उन्मत्ततामें इन्द्रियजनित और बुद्धिजनित सुख अपने ही आप निष्प्रभ हो जाते हैं। यह ईश्वर-प्रेम क्रमशः बढ़कर एक ऐसा भाव धारण करता है जिसको पराभक्ति कहते हैं। पराभक्ति उत्पन्न हो जानेपर प्रेमी पुरुषके लिये फिर अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं रहती, शास्त्र उसके लिये निष्प्रयोजन हो जाते हैं। प्रतिमा, मन्दिर, भजनालय,

विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय, देश और जाति आदि सब क्षुद्र सीमा-वाले भाव और बन्धन अपने आप चले जाते हैं। कोई उसे बन्धनकारक नहीं हो सकता और न कोई उसकी स्वाधीनता नष्ट कर सकता है। जैसे जहाज जब चुम्बक पत्थरके पहाड़से लग जाता है तो जहाजके सब कील कांटे उसमें चिपट जाते हैं और जहाजके तख्ते खुलकर इधर उधर बह जाते हैं। वैसे ही भगवत्कृपा आत्माका स्वरूप प्रकाश करनेमें सब विघ्नोंको दूर कर देती है। उस समय आत्मा मुक्त हो जाता है।

सारांश यह कि भक्ति प्राप्त करनेके साधनोंमें यह वैराग्य-साधन अत्यन्त सरल है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है, कोई कर्कश अथवा रूखा-सूखा भाव नहीं है और किसी प्रकारकी जोर-जबरदस्ती भी नहीं है। भक्तको अपने हृदयके किसी भावको दबा रखना नहीं पड़ता, वरन् वह अपने सब भावोंको प्रबल करके भगवान्‌की ओर चलाता है।

भक्तका वैराग्य प्रेम-प्रसूत

प्रकृतिमें सर्वत्र ही प्रेमका विकास दिखायी देता है। समाजमें जो कुछ सुन्दर और महान् है सभी प्रेमसे उत्पन्न है। यहां तक कि निन्दनीय पैशाचिक व्यापार भी उसी एक प्रेमभावके विकृत रूप हैं। पति-पत्नीका पवित्र दाम्पत्य-प्रेम और अति नीच काम-

वृत्ति दोनों ही उस एक ही प्रेमके विकास हैं। भाव एक ही है लेकिन भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें उसका भिन्न भिन्न रूप है। इस एक ही प्रेमको भले या बुरे मार्गमें लग जानेका यह फल होता है कि कोई तो दरिद्रको सर्वस्व दे देता है और कोई अपने माई-का गला काटकर उसका सर्वस्व हर लेता है। इनमें अन्तिम मनुष्य अपने आपको जितना चाहता है पहला मनुष्य दूसरेको उसी प्रकार चाहता है। लेकिन अन्तिम स्थानमें प्रेमका प्रवाह बुरी ओरको गया है, और पहलेमें वह उचित मार्गमें गया है। जो आग हमारा भोजन पकानेमें सहायक होती है वही आग एक बच्चेको जलानेका भी कारण हा सकती है। इसमें अग्निका कुछ दोष नहीं है। व्यवहारके अनुसार परिणाम होता है। ऐसे ही यह प्रेम, यह साथ रहनेकी प्रबल लालसा, दो व्यक्तियोंका एकप्राण होनेके लिये यह प्रबल आग्रह और अन्तमें उसी एक स्वरूपमें विलीन हो जानेकी इच्छा भले या बुरे भावमें सर्वत्र प्रकाशित है।

भक्तियोग प्रेमके उच्चतम विकासका विज्ञानस्वरूप है। वह हमें प्रेमके उचित पथमें ले जानेका, प्रेमको अपने अधीन रखनेका, उसका सदुव्यवहार करनेका, उसे एक नवीन मार्गमें ले जानेका, उससे श्रेष्ठ और महत्तम फल—अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करनेका उपाय दिखाता है। भक्तियोग किसी वस्तुके त्यागकी शिक्षा नहीं देता। केवल कहता है—"उस परम पुरुषमें आसक्त हो—लगो।" जो परमपुरुषके प्रेममें उन्मत्त हो जाता है

उसकी स्वभावतः फिर किसी नीच विषयमें आसक्ति नहीं रह सकती।

भक्तियोगकी धारणा है—"मैं तुम्हारे सम्बन्धमें और कुछ नहीं जानता केवल यह जानता हूं कि तुम मेरे हो, तुम सुन्दर हो, अति सुन्दर हो, तुम स्वयं सौ कर्मस्वरूप हो।" भक्ति-योग कहता है—"हे मनुष्यो, तुम स्वभावतः सुन्दर वस्तुको चाहते हो, भगवान् परम सुन्दर है। तुम उन्हींसे हार्दिक प्रेम करो। मनुष्यके मुखपर, आकाशमें, चन्द्रमामें, तारोंमें जो सौन्दर्यका विकास दिखायी देता है वह कहांसे आया! वह उसी भगवान्की प्रकृत सुन्दरताका आंशिक प्रकाश है। उसीके प्रकाशसे सबका प्रकाश है।"* भक्तिकी इस उच्च भूमिमें खड़े हो। वह एक दमसे तुम्हारी क्षुद्रताको भुला देगी। संसारकी तुच्छ, स्वार्थभरी आसक्तियोंको दूर फेंको, छोड़ दो। केवल मनुष्यजातिको अपनी मानवीय या उन्नतर कार्य-प्रवृत्ति-का एकमात्र लक्ष्य न समझो। साक्षीके रूपसे रहकर प्रकृतिके सारे व्यापारको देखो, मनुष्यजातिकी आसक्तिको अलग हटा दो। देखो, जगत्में यह प्रबल प्रेम-प्रवाह किस प्रकार काम करता है। संभव है, कभी ठोकर भी लग जाय तो उसे परम प्रेम-प्राप्तिकी चेष्टाका आनुषंगिक व्यापार समझो, संभव है कहीं कुछ गड़बड़ हो जाय। संभव है किसीका पैर फिसल जाय। किन्तु ये सभी

* तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति।

—कठ, ५।१५।

घटनायें उस परम प्रेमतक पहुंचनेकी सीढ़ियां हैं। चाहे जितनी गड़बड़ हो, चाहे जितना संघर्ष हो, तुम साक्षी रूप होकर जरा दूर हटकर रहो। जब तुम इस संसार-प्रवाहमें पड़े रहते हो तब ये ठोकरें तुम्हें लगती हैं, लेकिन ज्योंही इससे बाहर निकलकर केवल साक्षी रूपसे स्थित हुए कि देखोगे—भगवान् प्रेमस्वरूप होकर अनन्त प्रकारसे प्रकाशमान हो रहे हैं।

जहां कहीं कुछ भी आनन्द देखो, चाहे वह घोर विषयानन्द ही क्यों न हो, वहां उसी अनन्त आनन्द-स्वरूप स्वयं भगवान्का अंश समझो।" अत्यन्त नीच आसक्तिमें भी भगवत्-प्रेमका बीज छिपा है। संस्कृतमें भगवान्का एक नाम 'हरि' है उसका अर्थ है कि वह सबको अपनी ओर खींचता है। वास्तवमें केवल भगवान ही हमारे प्रेमका उपयुक्त पात्र है। हम जो अनेक ओर खिंच रहे हैं सो हमें खींचता कौन है ? वही, केवल वही भगवान् हमें अपनी गोदीकी ओर खींच रहा है। प्राणशून्य जड़ क्या कभी चैतन्य आत्माको खींच सकता है ? कभी नहीं। एक सुन्दर मुखड़ा देख-कर कोई उन्मत्त हो जाता है तो क्या इसका यह अर्थ है कि थोड़ेसे जड़ परमाणु उसे पागल कर देते हैं ? कदापि नहीं। इन जड़ परमाणुओंके पीछे अवश्य ईश्वरीय शक्ति और ईश्वरीय प्रेम-की क्रीड़ा हो रही है। मूर्ख मनुष्य इसे नहीं जानते, फिर भी जान या अनजानमें वे उसी द्वारा—केवल उसीके द्वारा—ही खिंच रहे हैं। इससे जान पड़ा कि नीचसे नीच आसक्ति भी मनुष्यपर जो प्रभाव डालती है वह प्रभाव ईश्वरीय प्रभावकी ही किरणमात्र

है। "हे प्रियतमे, पतिके लिये कोई पत्नी पतिको प्यार नहीं करती, किन्तु पतिके अन्तरस्थ आत्माके लिये ही पतिका प्यार करती है।"* पत्नियां यह जानें या न जानें, पर सिद्धान्त यह सत्य है। "हे प्रियतमे, पत्नीके लिये कोई पत्नीका प्यार नहीं करता; किन्तु अन्तरस्थ आत्माके लिये ही पत्नी प्रिय होती है।†" इसी प्रकार जो अपनी सन्तान या दूसरेसे प्रेम करता है वह उनके लिये नहीं, किन्तु उनके अन्तरस्थ आत्माके लिये। भगवान् एक बड़े चुम्बक पत्थरके समान हैं और हम सब लोह-चूर्णकी भांति। हम सब सदा भगवान्के द्वारा खिंचते रहते हैं; हम सब सदा उनके पानेकी चेष्टा करते हैं। जगत्में जो यह अनेक प्रकारकी चेष्टायें देख पड़ती हैं उन सबका एकमात्र लक्ष्य केवल स्वार्थ नहीं हो सकता। अज्ञ व्यक्ति अपने जीवनका उद्देश्य नहीं जानते, किन्तु वास्तवमें वे उसी परमात्मारूप बड़े चुम्बककी ओर बढ़ रहे हैं। मनुष्योंके इस कठोर जीवन-संग्रामका लक्ष्य केवल यह है कि अन्तमें परमात्माको पाकर उसमें मिल जायं।

भक्तियोगी इस संग्रामका अर्थ समझता है। वह इस संग्राममें विजय पा चुका है इसलिये वह लक्ष्य समझता है

---

* नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। ---बृहदारण्यक, अ-२, ब्रा० ४।

† नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। --बृहदारण्यक, अ-२, ब्रा-४।

और जीसे चाहता है कि विषय-भंवरमें फंसकर गोते न खाय। वह एकदम सब आकर्षणोंके मूल-कारणस्वरूप हरिके समीप जाना चाहता है। भक्तका त्याग यही है। भगवान्‌की ओर उसका यह महान् आकर्षण उसकी और सब आसक्तियोंका नाश कर देता है। यह प्रबल अनन्त प्रेम उसके हृदयमें घुसकर, दूसरी आसक्तियोंको वहांसे भगा देता है, उस समय भक्त स्वयं भगवान-रूप प्रेम-समुद्रके जलसे अपने हृदयको परिपूर्ण देखता है। फिर भला वहां दूसरी आसक्तियां कैसे रह सकती हैं? वहाँ तुछ प्रेमके लिये जगह नहीं रह जाती। तात्पर्य यह है कि भक्तका वैराग्य अर्थात् भगवान्‌के अतिरिक्त और सब विषयोंसे अनासक्ति, भगवान्‌के प्रति उसके परम अनुरागसे उत्पन्न होती है।

पराभक्तिको प्राप्तिके लिये इसी प्रकारकी तैयारीकी जरूरत है। यह वैराग्य प्राप्त हो जानेपर मानों पराभक्तिके ऊंचे शिखरपर चढ़नेके लिये द्वार खुल जाता है। उसी समयसे हम समझने लगते हैं कि पराभक्ति क्या है। जो पराभक्तिके राज्यमें पहुंच गया है उसीको—केवल उसीको—यह कहनेका अधिकार है कि प्रतिमा-पूजा वा बाहरी अनुष्ठान आदिकी अब आवश्यकता नहीं रही। उसने मनुष्यमात्रको भ्रातृभावके रूपमें देखनेवाली परम प्रेमकी अवस्था प्राप्त कर ली है। दूसरे तो केवल भ्रातृभाव, मातृ-भाव चिल्लाते भर हैं। पराभक्तिके प्राप्त होनेपर भक्तकी दृष्टिमें सब भेद-भाव मिट जाते हैं। महान् प्रेम-समूह उसके अन्तरात्मामें लहरा उठता है, अब वह मनुष्यके भीतर मनुष्य नहीं देखता वरन् सर्वत्र

प्रियतमको देखता है। जिस किसीके मुखकी ओर वह अपनी दृष्टि डालता है वहीं उसे हरिका प्रकाश दिखलाई पड़ता है। सूर्य और चन्द्रका प्रकाश उसीका प्रकाशमात्र है। जहां कहीं कोई सौन्दर्य्य और महत्व दिखाई देता है, वह सब उसी भगवान्‌का है। ऐसे भक्त जगत्‌में अब भी हैं। जगत् कभी ऐसे भक्तोंसे खाली नहीं होता। ऐसे ही भक्त सांपसे डंस जानेपर कहते हैं कि हमारे प्रियतमके पाससे दूत आया है। केवल ऐसे ही व्यक्तियोंको सार्वजनिक भ्रातृभावके सम्बन्धमें बातें करनेका अधिकार है, उनके हृदयमें कभी क्रोध, घृणा और ईर्षाके भाव नहीं उदय होते। बाहरी इन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषय उसकी दृष्टिसे अन्तर्हित हो जाते हैं। उसके हृदयमें क्रोध आदि भाव कैसे उदय हो सकते हैं जो प्रेम-बलसे सदा अतीन्द्रिय सत्यको देखा करता है ?

भक्तिकी स्वाभाविकता और उसका रहस्य

अर्जुनने भगवान् कृष्णसे पूछा था—"जो सदा मनोयोगी होकर तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त, निर्गुणकी उपासना करते हैं, इनमें कौन श्रेष्ठ योगी है ?" भगवान् कहते हैं—"जो मुझमें मन लगाकर, नित्यमुक्त होकर बड़ी श्रद्धासे उपासना करते हैं वे ही मेरे श्रेष्ठ उपासक हैं और वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। जो लोग इन्द्रिय-संयम करके सब विषयोंको

समान समझ निर्गुण, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, निर्विकार, अचल और नित्य-स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे जीवमात्रके हितमें लगे हुए व्यक्ति मुझे प्राप्त होते हैं। किन्तु जो अव्यक्तमें आसक्त हैं उन्हें अधिकतर कष्ट होता है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्ति बड़े कष्टसे अव्यक्त गति प्राप्त कर सकता है। जो लोग अपने समस्त कार्य मुझे समर्पित करके, मुझमें लगकर मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते हैं मैं उनका शीघ्र ही बारम्बार जन्म-मृत्युरूपी महासमुद्रसे उद्धार करता हूं, क्योंकि उनका मन सदा मुझमें पूर्णरूपसे आसक्त रहता है।"*

---

* अर्जुन उवाच,—एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते,
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥
श्रीभगवानुवाच—मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परमोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यंचकूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गति दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
—भगवद्गीता, अ० १२ श्लोक १ से ७ तक

यहां ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनोंपर लक्ष्य है। क्योंकि, इसमें दोनोंका वर्णन है। ज्ञानयोग निस्सन्देह श्रेष्ठ मार्ग है, तत्त्वविचार ज्ञानयोगका प्राण है। और आश्चर्य्य यह कि सभी सोचते हैं कि ज्ञानयोगके आदर्शके अनुसार वह चल सकते हैं, किन्तु वास्तवमें ज्ञानयोगका साधन बड़ा कठिन है, इसमें अनेक आपदायें आ सकती हैं।

जगत्‌में दो प्रकारके लोग पाये जाते हैं :—

१—आसुरी प्रकृतिवाले—जो अपने शरीरको सुखी और स्वतंत्र रखना ही जीवनका अन्तिम उद्देश्य समझते हैं:—

२—दैवप्रकृतिवाले—जो अपने शरीरको किसी विशेष उद्देश्यके साधनका उपाय मानते हैं। वे समझते हैं कि उनका शरीर आत्माकी उन्नतिके लिये एक यंत्र है।

शैतान अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये शास्त्रका प्रमाण दे सकता है और देता भी है। ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधुओंको सत्कार्यमें प्रबल उत्साह देता है उसी प्रकार असाधुओंके कामोंका भी मानों समर्थक प्रतीत होता है। ज्ञानयोगमें यह बड़ी विपद है। किन्तु भक्तियोग स्वाभाविक और मधुर है। भक्त ज्ञानयोगीके समान बहुत ऊंचे नहीं उठ जाता, इसलिये उसके अधिक पतनकी आशंका नहीं होती। यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि, साधक चाहे जिस मार्गपर चले जबतक उसके सभी बन्धन नहीं टूट जाते, वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

तच्चिन्ता विपलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।
तदप्राप्ति महद्दुःखविलीना शेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत सूर्ति परब्रह्मस्वरूपिणं ।
निरुच्छ्वास तया मुक्ति गतान्या गोपकन्यका ॥
—विष्णुपुराण, पंचम अंश, अ० १३ श्लोक २१, २२

उद्धृत श्लोकोंसे पता चलता है कि किस प्रकार एक भाग्यवती गोपनारीके जीवात्माका बन्धनरूप पाप-पुण्य क्षय हुआ था। भगवान्‌की चिन्ताजनित परम प्रसन्नतामें उसके सब पुण्य-बन्धन नष्ट हो गये तथा भगवान्‌की अप्राप्तिसे उत्पन्न महा-दुःखमें उसके सब पाप धुल गये और वह गोपकन्या मुक्त हो गयी। इससे यह परिणाम निकलता है कि मनुष्यके हृदयमें जो वासनायें या भाव हैं उनमें कोई भी बुरे नहीं हैं, उनको धीरे धीरे अपने वशमें लाकर, यहांतक ऊंचे उठाना चाहिये कि वे उंचाई-की चरम सीमापर पहुंच जायं। सर्वोच्च गति भगवान्‌की प्राप्ति है, दूसरी सभी गतियां नीचे ले जानेवाली हैं। हमारे जीवनमें सुख और दुःख बारम्बार घूम फिरकर आते हैं। जब कोई मनुष्य धन वा अन्य सांसारिक वस्तुके न मिलनेपर दुःखी होता है तब समझना चाहिये कि वह अपनी प्रवृत्तिको असत् मार्गमें चला रहा है। फिर भी दुःखकी आवश्यकता है। 'मुझे परम-पुरुषकी प्राप्ति क्यों नहीं हो सकी, भगवान मुझे क्यों नहीं मिलते' —यदि इस प्रकारके विचारोंसे मनुष्य विकल हो जाय तो वही यंत्रणा उसकी मुक्तिका कारण हो जायगी। थोड़ेसे रुपयोंपर जब

तुम फूल जाते हो तो समझना होगा कि तुम अपनी आनन्द-वृत्तिको बुरे मार्गसे ले जा रहे हो। उस आनन्दवृत्तिको अधिक ऊंचे विषयोंकी ओर लगाना पड़ेगा, हमारा सर्वोच्च लक्ष्य भगवान्‌की चिन्तामें आनन्द प्राप्त करना होना चाहिये। अन्यान्य वृत्तियोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। भक्तके लिये इनमेंसे कोई भी बुरी नहीं है, क्योंकि वह इन सब वृत्तियोंको घुमाकर भगवान्‌की ओर ले जाता है।

भक्तिकी अवस्थाओंके भेद

भक्ति अनेक भावोंसे प्रकाशमान होती है* जिनमें प्रथम श्रद्धा है। लोग मन्दिर और तीर्थस्थानोंमें इतनी श्रद्धा क्यों रखते हैं? इसलिये कि वे जानते हैं कि इन सब स्थानोंमें उसकी पूजा होती है, इसलिये कि इन सब स्थानोंमें भगवान्‌का भाव प्रबल हो जाता है और इसलिये कि हम इन सब स्थानोंमें भगवान्‌की सत्ता पाते हैं। प्रत्येक देशमें लोग धर्माचार्योंपर इतनी श्रद्धा क्यों रखते हैं? इसलिये कि वे सभी उस एक भगवान्‌की महिमाका ही प्रचार करते हैं। फिर मनुष्यकी उनपर श्रद्धा

* सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्याति तदर्थप्राणस्थानतदीयता सर्व्वतदभावा प्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।

—शाण्डिल्यसूत्र, अ० २ आ० १ सूत्र ४।

कैसे न हो? श्रद्धाका मूल प्रेम है, हम जिसे प्रेम नहीं करते उस-पर हमारी श्रद्धा नहीं हो सकती।

दूसरे प्रीति—भगवान्‌की चिन्तामें आनन्दका अनुभव करना प्रीति है। मनुष्य विषयोंमें कितना बेजोड़ आनंद मानता है! इन्द्रिय-सुखके लिये सब जगह दौड़ता है, भयंकर विपदका उसे सामना करना पड़ता है। भक्तको ऐसे ही प्रबल प्रेमकी आवश्य-कता है। इस प्रेमको भगवान्‌की ओर मोड़ देना चाहिये।

तीसरे विरह—जिसपर प्रेम है उसके अभावमें अत्यन्त दुःखित होना। यह दुःख संसारके सब दुःखोंमें मधुर—अत्यन्त मधुर—है। यदि मनुष्य इस भावसे, कि मैं अबतक भगवान्‌को न पा सका, जो जानना चाहिये उसे मैं अबतक न जान सका—अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और यंत्रणासे अस्थिर और उन्मत्त हो उठता है तो समझना चाहिये वह भक्तिकी उस अवस्थामें है जिसे विरह कहते हैं। मनकी यह अवस्था हो जानेपर जिसपर प्रेम है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं सुहाता। शास्त्रमें इस अवस्थाको 'इतर विचिकित्सा' कहा गया है। पार्थिव प्रेममें पागल हो जानेवाले प्रेमिक-प्रेमिकाओंमें यह विरह प्रायः देखा जाता है। स्त्री-पुरुषमें जब परस्पर यथार्थ प्रणय उत्पन्न हो जाता है तो जिनपर उनका प्रेम नहीं होता उनका साथ उन्हें स्वभावतः विरक्तिकर जान पड़ता है। ठीक यही दशा भक्तकी उस समय होती है जब उसके हृदयपर पराभक्तिका प्रभाव पड़ जाता है। भक्तके हृदयमें पराभक्तिके

विरोधी भावोंके लिये विरक्ति उत्पन्न होती है। उसे भगवान्‌के अतिरिक्त प्रत्येक विषय विरक्तिकर जान पड़ता है। "उसीकी केवल उसीकी चिन्ता कर, और सब बातें छोड़।"* भगवत-चर्चा करनेवालोंको भक्त मित्र समझता है। दूसरे विषयोंकी बातें करनेवालोंको शत्रुकी दृष्टिसे देखता है। भक्त जब भक्तिकी और ऊंची सीढ़ीपर चढ़ जाता है तब उसकी यह धारणा हो जाती है कि शरीर धारण करना केवल उसकी उपासनाके लिये है। घड़ीभर भी भगवान्‌की उपासनाके बिना जीवित रहना उसके लिये असम्भव हो जाता है, प्रियतमकी चिन्ता हृदयमें वर्तमान रहना ही उसके जीवनका सुख होता है, भक्तिकी इस अवस्थाका नाम 'तदर्थ प्राण स्थान' है।

'तदीयता'—साधक जब सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है तब तदीयता आती है, जब वह भगवान्‌के चरण-कमलोंको स्पर्श करके कृतार्थ हो जाता है तब उसकी प्रकृति निर्मल हो जाती है और उसके जीवनकी सब आकांक्षायें पूरी हो जाती हैं। इस अवस्थामें पहुंचकर बहुतसे भक्त केवल उसकी उपासनाके लिये ही जीवित रहते हैं। इनके जीवनमें यही एक सुख होता है। वे इस सुखको छोड़ना नहीं चाहते। "हे राजन्, हरिमें ऐसे मनोहर गुण हैं कि जिन्होंने पूर्ण परम तृप्ति पा ली है और जिन्होंने हृदयकी

* तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या।
वाचो विमुञ्चथा मृतस्यैव सेतुः।
—मुण्डक उपनिषद्, मुण्डक २; खण्ड २, श्लोक ५।

गांठ खोल डाली है वे भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति करते रहते हैं।*" (सब देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादी भी भगवान्‌की उपासना किया करते हैं),† प्रेमका प्रभाव ही ऐसा है। जब 'मैं और मेरा' यह ज्ञान पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है तब तदीयता प्राप्त होती है। तदीयता प्राप्त हो जानेपर भक्तके लिये सब कुछ पवित्र हो जाता है क्योंकि वह सब उसीका समझता है। सांसारिक प्रेममें भी जिसपर प्रेम होता है उसकी प्रत्येक वस्तु प्रेमिककी दृष्टिमें पवित्र और प्यारी होती है, वह अपने प्यारेके वस्त्रके एक टुकड़ेको भी प्यार करता है। इसी प्रकारसे जो भगवान्‌से प्रेम करता है वह सम्पूर्ण जगत्‌से भी प्रेम करता है क्योंकि सम्पूर्ण जगत् उसी भगवान्‌का है।

सार्वजनिक प्रेम

पहले समष्टिसे प्रेम करना सीखे बिना व्यष्टिसे प्रेम नहीं किया जा सकता। समग्र जगत्‌को यदि एक अखण्डरूपमें विचारा जाय तो वही ईश्वर है। और यदि जगत्‌को

* आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअप्युरुक्रमे।
कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूत गुणो हरिः॥
—श्रीमद्‌भागवत् स्कन्ध १ अ० ७ श्लोक १०

† यं सर्व्वेदेवा नमस्यंति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
—नृसिंहतापनी उपनिषद, खण्ड ५ भाग २, श्लोक १६

अलग अलग रूपमें देखा जाय तो यह जगत् व्यष्टि है। समष्टिको —सर्वव्यापीको, उस अखण्ड वस्तुको जिसमें सब छोटी छोटी वस्तुयें स्थित हैं—प्यार करनेपर ही सम्पूर्ण जगत्का प्यार करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिकोंने व्यष्टिपर ही बस नहीं किया, वे व्यष्टिकी ओर एक उड़ती दृष्टि डालकर उस साधारण भावको ढूंढ़ते हैं जिसके अन्तर्गत सब व्यष्टि अथवा विशेष भाव समाये हुए हैं। प्राणिमात्रमें इस साधारण भावका अन्वेषण करना ही भारतीय दर्शन और धर्मका लक्ष्य है। जिसे जाननेसे सब कुछ जाना जाता है उसी समष्टिभूत, एक निरपेक्ष और सब प्राणियोंमें साधारण भाव स्वरूप पुरुषको जानना ही ज्ञानीका लक्ष्य है। जिसे प्यार करनेसे इस चराचर विश्व-ब्रह्माण्डके ऊपर प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसी सर्वगत-पुरुष-प्रधानका भक्त साक्षात् उपलब्ध करना चाहता है और योगी भी उसी मूल-शक्तिको जीतना चाहते हैं जिसके जीतनेपर सम्पूर्ण जगत्पर विजय प्राप्त हो जाती है। यदि भारतवासियोंके मनकी गतिका इतिहास ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यही मिलेगा कि जड़विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्तितत्त्व, दर्शन सभी ओर वे सदासे समूहमें एक सर्वगत तत्त्वकी—प्राणिमात्रमें साधारण भावकी—अपूर्व खोजमें लगे रहे हैं। यदि मनुष्य एक एक करके एकके बाद दूसरेसे प्रेम करता जाय तो किसी समय मनुष्योंकी बड़ी संख्यासे प्रेम करने लगेगा, किन्तु सम्पूर्ण जगत्पर एक साथ वह कभी प्रेम न कर सकेगा। सार्वजनिक प्रेम तो तभी

सम्भव है जब यह मूल-सत्य जान लिया जाय कि ईश्वर सम्पूर्ण प्रेमका समष्टिरूप और मुक्त, मुमुक्षु, बद्ध—मायाग्रसित—सम्पूर्ण जीवात्माओंका आदर्श समष्टि है। भगवान् समष्टि रूप हैं और दिखलाई पड़नेवाला जगत् भगवान्‌का परिच्छिन्न भाव है। समष्टिका प्यार करना सम्पूर्ण जगत्‌का प्यार करना है। समष्टिसे प्रेम करनेपर जगत्‌से प्रेम करना सहज हो जाता है। जो जगत्‌का कल्याण करना चाहता है उसे पहले भगवत्-प्रेमके द्वारा जगत्‌से प्रेम करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। अन्यथा संसार-हित-साधन हंसी खेलकी बात नहीं है। भक्त कहता है कि "सब भगवान्‌के हैं, भगवान् मेरा प्रियतम है। मैं उसे प्यार करता हूं।" इसी प्रकार भक्त सभीको पवित्र समझता है क्योंकि सभी उसके भगवान्‌के हैं। जब कि सब उसकी सन्तान, उसके अंगस्वरूप और उसके प्रकाशमात्र हैं तब कैसे दूसरोंके प्रति हिंसा की जा सकती है और दूसरोंसे प्रेम किये बिना कैसे रहा जा सकता है? भगवत्-प्रेमके साथ साथ जीवमात्रसे प्रेम करना भी उत्पन्न होता है। हमलोग जितना ही भगवान्‌की ओर बढ़ते हैं उतना ही अधिक वस्तु-समुदाय भगवान्‌में पाते हैं। जब जीवात्मा इस परम प्रेमानन्दके प्राप्त करनेमें सफल हो जाता है तब वह प्राणिमात्रमें ईश्वरका देखना आरम्भ करता है, इस प्रकारसे मनुष्यका हृदय अनन्त प्रेम-स्रोत बन जाता है। वह जब इस सीमासे और आगे बढ़ता है तो उसके लिये जगत्‌के पदार्थोंका क्षुद्र पार्थक्य—अलगाव—

बिलकुल नाश हो जाता है। वह मनुष्यको मनुष्य नहीं समझता, भगवान् समझता है। दूसरे प्राणियोंमें भी भगवान्हीको देखता है यहांतक कि वह बाघको बाघ नहीं समझता, बाघमें भी उसे भगवान् ही देख पड़ते हैं। इस प्रगाढ़ भक्तिकी अवस्थामें प्राणिमात्र उसके उपास्यदेव हो जाते हैं। "भगवान्को सबमें जानकर ज्ञानी मनुष्य प्राणिमात्रपर एकरस भक्ति रखते हैं।"* इस प्रकारके प्रगाढ़,सर्वग्राही प्रेमका परिणाम पूर्ण आत्म-निवेदन है। प्रेमिकको दृढ़ विश्वास हो जाता है कि संसारमें जो कुछ भला बुरा होता है, मेरे प्रतिकूल नहीं है, किसीसे मेरा अनिष्ट नहीं हो सकता। दुःखों और कष्टोंसे वह कहता है कि आओ भाई आओ, तुम भी मेरे प्रियतमके पाससे आये हो। यदि सर्प उसके पास आये तो उसका वह स्वागत करता है और यदि मृत्यु आये तो हंसते हुए उसका अभिनन्दन करता है। वह कहता है—"मैं धन्य हूं कि मेरे पास ये सब आ रहे हैं।" भगवान्पर और उसका जो कुछ है—सबपर जब प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो भक्त ऐसी अवस्थामें निर्भर अवस्थामें पहुंच जाता है। उसके लिये सुख-दुःखमें अन्तर नहीं रह जाता। दुःखमें वह विरक्ति नहीं अनुभव करता। भक्तकी यह निर्भर अवस्था बड़े बड़े वीरताके काम करके यश कमानेकी अपेक्षा कहीं सुन्दर और वाञ्छनीय है।

---

* एवं सर्वेषुभुतेषुभक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्त्ता व्यापविदतज्ञत्वा सर्व्वभूतमयं हरिम्॥

अधिकांश मनुष्य अपने शरीरको ही सर्वस्व समझते हैं। यह देह ही उनकी दृष्टिमें सारा संसार है। देह-सुख ही उनके लिये सब कुछ है। हम सबके हृदयमें शरीर और शरीर-सम्बन्धी भोग्य वस्तुओंकी उपासनाका राक्षस पैठ गया है। हम लोग खूब लम्बी चौड़ी बातें कर सकते हैं, बड़े ऊंचे ऊंचे विषय छेड़ सकते हैं, पर हैं वास्तवमें हमलोग गिद्धके समान। चाहे जितने ऊंचे उठ जायं, पर शरीरका ध्यान नहीं छूटता, गिद्ध चाहे जितना ऊपर उड़ जाय, पर उसका जी मुरदेकी मांसकी ओर लगा रहता है। लोग बाघसे शरीरको क्यों बचाते हैं? उसको शरीर क्यों नहीं दे सकते? शरीरसे तो बाघकी तृप्ति हो जाती! आत्मोत्सर्ग और उपासनामें कितना अन्तर है? क्या अहंभाव पूर्णरूपसे नाश किया जा सकता है? प्रेमकी यह सबसे ऊंची चोटी है, यहां बहुत थोड़े लोग चढ़ पाते हैं। मनुष्य जबतक इस प्रकारके आत्म-त्यागके लिये पूरे अन्तः-करणसे प्रस्तुत नहीं होता तबतक पूरा भक्त नहीं हो सकता। शरीरके उपासक थोड़े-बहुत समयतक शरीरको बचा सकते हैं और थोड़े-बहुत समयतक शरीर-सुख भी भोग सकते हैं। पर, इससे क्या होगा? शरीरको तो एक दिन नष्ट ही होना है, क्योंकि शरीर नित्य नहीं है। वे लोग धन्य हैं जिनका शरीर दूसरोंकी सेवामें नष्ट होता है। वे साधु हैं जो रुपया पैसा तो कोई बात ही नहीं, परहितके लिये सदा अपने प्राणतक उत्सर्ग करनेपर उद्यत रहते हैं। जगत्में मृत्यु ही एक

सत्य है। कितना अच्छा हो कि मनुष्य-शरीर किसी बुरे काममें न नष्ट होकर किसी अच्छे कामके लिये बलिदान हो जाय। मनुष्य पचास, साठ या अधिकसे अधिक सौ वर्ष जीता है और फिर यह शरीर जिन वस्तुओंसे बना है वे वस्तुयें अपने रूपमें जा मिलती हैं। एक निश्चित समयमें अवश्य मरना पड़ता है। ईसा, बुद्ध, महम्मद कोई भी तो जीवित नही हैं, सब मर गये। जगत्के सब महान् पुरुष और आचार्य भी तो मर गये! इसलिये इस नश्वर जगत्में जहां सभो पदार्थ धीरे धीरे क्षय हो रहे है, जो समय मिले उसका सदुव्यवहार करना चाहिये। वास्तवमें जीवनका प्रधान कार्य्य है भी यही कि इसे परसेवामें लगा दिया जाय। शरीरकी उपासना सब स्वार्थोंकी जड़ है। यह भारी भूल है कि मनुष्य अपनेको शरीर समझ बैठते हैं और चाहते हैं कि शरीरको बचावें और स्वच्छन्द रखें। यदि वे निश्चित रूपसे यह जान लें कि शरीरसे वे बिलकुल अलग हैं तो फिर जगत्में कुछ भी उन्हें प्रतिकूल नहीं दिखाई पड़ेगा, वे स्वार्थपरताके घेरेसे बाहर निकल जायंगे। भक्त जगत्के प्रत्येक पदार्थके सम्बन्धमें मृनवत् रहता है—यही वास्तविक आत्म-समर्पण है। 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो' इस वाक्यका तात्पर्य्य इसी प्रकारके आत्मसमर्पणसे है। निर्भरका यह अर्थ नहीं है कि कोई संसारके साथ संग्राम भी करता रहे और साथ ही मनमें सोचता रहे कि भगवान्की इच्छासे ही मुझमें ये दुर्बलतायें और सांसारिक आकांक्षायें उत्पन्न हुई हैं। सम्भव है

कि स्वार्थपूर्ण कामोंसे भविष्यमें मंगल हो, पर भक्त इसपर कुछ नहीं सोचता। उसकी धारणा होती है कि मनुष्यका इससे कोई सम्बन्ध नहीं, भगवान् इसे स्वयं देखेंगे। भक्त अपने लिये न कभी कोई इच्छा करता है और न काम करता है। "प्रभो, लोग तुम्हारे नामपर बड़े बड़े मन्दिर बनवाते हैं, कितना दान पुण्य करते हैं; किन्तु मैं, मैं तो दरिद्र हूं, अकिञ्चन हूं, मैं अपना शरीर तुम्हारे कमलचरणोंमें समर्पित करता हूं, प्रभो, मुझे त्याग न देना।" यह है प्रार्थना जो भक्त-हृदयके गंभीर प्रदेशसे उठती है। जिसने एक बार भी इस अवस्थाका स्वाद पा लिया उसे संसारकी सारी सम्पत्ति, और सम्पूर्ण प्रभुत्व ही नहीं वरन् वह उससे उच्च मान, यश और सुख विलासतक भी जिसकी कल्पना की जा सकती है, हीन जंचते हैं, इन सबकी अपेक्षा प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पण करना उसे अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इस अवस्थामें उसे जो शान्ति मिलती है वह अमूल्य है और मानव-बुद्धिसे परे है। जगत्में उसका कहीं कोई स्वार्थ नहीं रह जाता। फिर जब स्वार्थ ही नहीं रहता तब संसारकी कौनसी वस्तु उसके लिये हानिकर हो सकती है? इस परम निर्भर अवस्थामें सब प्रकारकी आसक्ति दूर हो जाती है, केवल वह प्रेमात्मिका आसक्ति रह जाती है जो सर्वभूतमय अन्तरात्मा और आधार स्वरूप भगवान्के प्रति पूर्ण अवगाहिनी है। भगवान्के प्रति यह प्रेमका आकर्षण जीवात्माके बन्धनका कारण नहीं है, वरन् जीवात्माके बन्धन टूटनेमें इस प्रेमसे सहायता मिलती है।

पराविद्या और पराभक्ति एक ही है

उपनिषद्‌में परा और अपरा विद्या नामक दो विद्याओंका भिन्न भिन्न रूप बताया गया है परन्तु भक्तके लिये इस पराविद्या और पराभक्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। मुण्डक उपनिषद्‌में कहा गया है कि "ब्रह्मज्ञानियोंके मतसे दो प्रकारकी विद्यायें जानने योग्य हैं—पहली परा और दूसरी अपरा। अपरा विद्यामें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा—उच्चारण, यति आदिकी विद्या,-कल्प,-यज्ञ पद्धति,-व्याकरण, निरुक्त-वैदिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति और उनका अर्थ जो शास्त्रोंके द्वारा जाना जा सके,—छन्द और ज्योतिषको जानना है, और पराविद्या वह है जिसके द्वारा उस अक्षरका ज्ञान जा सके।"* इससे स्पष्ट है कि पराविद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही पदार्थ है। देवीभागवतमें पराभक्तिका यह लक्षण दिया गया है—"जैसे तेल एक बर्तनसे दूसरे बर्तनमें डालते समय अविच्छिन्न धारामें गिरता है वैसे ही मन जब अविच्छिन्न भावसे भगवान्‌के स्मरणमें लग जाय तो समझना चाहिये कि पराभक्तिका उदय हुआ

* द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्मपद ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवा परा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।
—मुण्डकोपनिषद्, मु० १, खण्ड १, श्लोक ४ ५।

है।"* अविच्छिन्न आसक्तिके साथ अविरत और नित्य स्थिर-भावसे हृदय और मनका भगवान्‌की ओर लग जाना मानव-हृदयमें सबसे ऊंचे भगवत्-प्रेमका प्रकाश होना है। अन्य जितने प्रकारकी भक्तियां हैं वे सब इसी पराभक्तितक पहुंचने-की सीढ़ियांमात्र हैं। मनुष्यके हृदयमें जब पराभक्तिका उदय हो जाता है तब उसका मन सदा ईश्वरकी चिन्तामें लगा रहता है, दूसरा कोई भाव उसके स्मृति-पथमें उदय नहीं होता। उसके मनमें भगवान्‌को छोड़कर और किसी बातके लिये स्थान नहीं रह जाता। उस दशामें उसका आत्मा अभेद्य पवित्रताके आवरण-से ढका रहता है और वह मानसिक तथा भौतिक सब प्रकारके बन्धनोंको पारकर शान्त और मुक्त भाव धारण कर लेता है। ऐसे मनुष्यमें ही यह शक्ति होती है कि वह अपने हृदयमें भगवान्‌की उपासना करता रहे। उसके लिये अनुष्ठान, प्रतिमा-पूजन, शास्त्र-अध्ययन, मतामत आदि बातें अनावश्यक हो जाती हैं, क्योंकि इनसे अब उसका कोई उपकार नहीं होता। यह प्रेम सहज बात नहीं है। मानवीय प्रेम वहीं बढ़ता है जहां बदलेकी आशा होती है। बदलेकी आशा टूट जानेपर प्रेमके स्थानपर उदासीनता छा जाती है। बदलेकी आशाके बिना प्रेमका विकास बहुत ही कम देखा जाता है। पतंगेमें इस प्रकार-का प्रेम पाया जाता है। पतंगा अग्निको प्यार करता है और

* चेतसो वर्तनञ्चैव तैलधारा समं सदा इत्यादि

देवी भागवत, स्कन्ध, ७ अ-३७ श्लोक ११

अग्निको आत्मसमर्पणकर प्राण त्याग देता है, पतंगा स्वभावसे ही इस प्रकारका प्रेमी है। संसारमें जितने प्रकारके प्रेम होते हैं उनमें जो प्रेम केवल प्रेमके लिये है वह प्रेम सबसे ऊंचा और पूर्ण निस्स्वार्थ प्रेम है। इस प्रेमको आरम्भ करनेसे ही मनुष्य पराभक्तिमें पहुंचता है।

प्रेम त्रिकोणात्मक है

प्रेमको एक त्रिकोणके रूपसे दिखाया जा सकता है। उसका प्रत्येक कोना मानों उसके एक एक समूचे रूपको प्रकट करता है। तीन कोनोंके बिना कोई त्रिकोण नहीं हो सकता, इसी प्रकार तीन गुणोंके बिना प्रेम—प्रकृत अथवा सच्चा प्रेम—भी नहीं हो सकता। प्रेमरूप त्रिकोणका एक कोना यह है कि प्रेममें किसी प्रकारका क्रय-विक्रय, लेवा-बेचीका भाव नहीं है। जहां किसी बदलेकी आशा रहती है वहाँ सच्चा प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता। वह एक दूकानदारी सी हो जाती है। जबतक हमारे हृदयमें भगवान्‌पर भय, निश्चित भक्ति और उसकी आज्ञा-पालनके बदलेमें उससे किसी प्रकारके वर पानेकी इच्छा रहती है तबतक हमारे हृदयमें प्रकृत-प्रेम पैदा नहीं हो सकता। जो लोग कुछ पानेकी आशासे भगवान्‌की उपासना करते हैं वे वर-प्राप्तिकी आशा न रहनेपर उपासना न करेंगे, किन्तु भक्त तो भगवान्‌को

प्रेमास्पद जान प्रेम करता है। प्रकृत भक्तके इस देववाञ्छित प्रेमोच्छ्वासमें कोई और स्वार्थ नहीं होता। एक कथा है कि किसी समय वनमें एक राजाकी एक साधुसे भेंट हुई। थोड़ी ही देर बातें करनेपर साधुकी पवित्रता और ज्ञानका परिचय पाकर राजाको सन्तोष हुआ और राजाने साधुको कुछ देना चाहा और प्रार्थना की कि मुझे कृतार्थ करनेके लिये कुछ ग्रहण कीजिये। किन्तु साधुने स्वीकार न किया और कहा—"वनके फल मेरे भोजनके लिये बहुत हैं, पर्वतसे निकला हुआ पवित्र जल मेरे पीनेको काफी है, पहननेको पेड़ोंकी छालें बहुत हैं और रहनेको पर्वत कन्दरा यथेष्ट है फिर मैं क्यों आपसे या किसीसे कुछ लेने लगा।" राजाने फिर विनय की और कहा—"भगवन्, मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही मेरे हाथसे कुछ ग्रहण कीजिये, मेरे साथ राजधानीमें पधारिये।" बहुत अनुरोधके बाद साधु राजाके साथ गया। राजा साधुको कुछ दान देनेके पहले उससे बार बार वर मांगने लगा—"प्रभो, मेरे बाल-बच्चे बढ़ें, धन दौलत बढ़े, मेरा राज्य बढ़े, मेरा शरीर नीरोग रहे." इत्यादि। राजाकी प्रार्थना समाप्त होनेके पहले ही साधु चुपचाप उठकर जाने लगा। यह देखकर राजा चकित हो गया तथा उसके पीछे पीछे चला और पुकारने लगा—"महात्मन्, जा रहे हो? मेरा दान नहीं ग्रहण किया!" साधुने उसकी ओर फिरकर कहा—"अरे भिखमंगे, मैं भिख-मंगेसे भिक्षा नहीं लेता। तुम स्वयं एक भिक्षुक हो, तुम मुझे क्या

दे सकते हो? मैं इतना मूर्ख नहीं हूं कि तुम्हारे जैसे भिक्षुकसे भिक्षा लूं, जाओ, मेरे पीछे न लगो।" इस उदाहरणमें भिक्षुक और भगवान्‌के सच्चे प्रेमीका अच्छा भेद दिखलाया गया है। और तो क्या मुक्तिप्राप्तिके लिये भगवान्‌की उपासना करना भी अधम बताया गया है। प्रेम किसी लाभकी आकांक्षा नहीं रखता। प्रेम केवल प्रेमके लिये ही होता है। भक्त भगवान्‌से प्रेम इसलिये करता है कि वह प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता। तुम एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य देखकर उससे प्रेम करने लगते हो, तुम इस दृश्यसे कुछ मांगते नहीं हो और न दृश्य ही तुमसे कुछ प्रार्थना करता है। दृश्यके दर्शनसे हृदयमें आनन्दका उदय हो जाता है, यह आनन्द अशान्ति दूर करके मनको शान्त कर देता है और एक प्रकार क्षणभरके लिये नश्वर प्रकृतिसे बाहर ले जाकर स्वर्गीय आनन्दसे आनन्दित कर देता है। प्रेमका यह भाव ऊपर कहे हुए त्रिकोणात्मक प्रेमका एक कोना है, प्रेमका बदला मत चाहो, बस केवल देते चले जाओ, भगवान्‌को-अपना प्रम दो, पर उससे भी इसके बदलेमें कुछ न चाहो।

प्रेमरूप त्रिकोणका दूसरा कोना यह है कि प्रेममें किसी प्रकारका भय नहीं है। जो भगवान्‌को भयसे प्रेम करते हैं वे अधम मनुष्य हैं। उनमें मनुष्यत्वका अभीतक भी विकास नहीं हुआ। वे दण्डके भयसे भगवान्‌की उपासना करते हैं। उनका खयाल है कि भगवान् एक बड़े आदमी हैं, उनके एक हाथमें सोंटा और दूसरेमें चाबुक है, उनका हुकुम न माननेसे

डंडा पड़ने लगेगा। दण्डके भयसे की हुई उपासना अत्यन्त नीच श्रेणीकी उपासना है। इस उपासनाको यदि उपासनाके नामसे ही पुकारना हो तो कहना पड़ेगा कि यह प्रेमकी अत्यन्त अविकसित अवस्था है। जबतक हृदयमें किसी प्रकारका भय बना हुआ है तबतक प्रेमका विकास कैसे हो सकता है? प्रेम स्वभावसे ही सम्पूर्ण भयका नाश कर देता है। मान लीजिये एक माता रास्तेमें खड़ी है, किसी कुत्तेके भूंकते ही वह डरी और पास घरमें चली गयी। किन्तु सोचिये यदि मांके साथ उसका बच्चा होता, और सिंह बच्चेके ऊपर झपट पड़ता तो मां कहां जाती? अवश्य सिंहके मुंहमें जाती। प्रेम वास्तवमें सम्पूर्ण भयका नाश कर डालता है। कहीं संसारसे नाता टूट जायगा, ऐसे ही किसी स्वार्थी भावसे भय उत्पन्न होता है। हम अपनेको जितना ही अधिक तुच्छ और स्वार्थी बना लेंगे, हमारा भय भी उतना ही अधिक हो जायगा। यदि कोई सोचे कि मैं कोई चीज नहीं हूं तो अवश्य वह भयभीत होगा। मनुष्य अपनी तुच्छताको जितना कम सोचेगा उतना ही उसका भय कम हो जायगा। जबतक तुममें तनिकसा भी भय बना हुआ है तबतक तुममे प्रेम नहीं रह सकता। प्रेम और भय दो विपरीत भाव हैं। जो भगवान्से प्रेम करता है वह कभी उससे भयभीत नहीं होता। सच्चा भगवत्-प्रेमी 'भगवान्का नाम वृथा न लेना'—यह आदेश सुनकर हंस पड़ता है। प्रेम-धर्ममे भगवन्निन्दाका क्या काम? किसी रूपमें हो भगवान्का नाम जितना

ही ले सको उतना ही भला है। तुम उसे चाहते हो इसीसे उसका नाम जपते हो।

प्रेमरूप त्रिकोणका तीसरा कोना यह है कि प्रेमीका कोई दूसरा प्रेमपात्र न रहे। क्योंकि वही प्रेमीका सर्वोच्च आदर्श होगा। जबतक प्रेमपात्र सबसे ऊंचे आदर्शके रूपमें नहीं देख पड़ता तबतक प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न होता। हो सकता है कि अनेक स्थलोंमें मानवीय प्रेम असत् मार्गमें जा रहा हो, किन्तु प्रेमीके लिये उसकी प्रिय वस्तु ही सर्वोच्च आदर्श होती है। कोई तो अत्यन्त नीच मनुष्यमें अपने उच्च आदर्शको देखता है और कोई अत्यन्त उच्च मनुष्यमें। किन्तु सर्वत्र ही प्रकृत और प्रगाढ़ रूपसे अपने आदर्शको प्यार किया जाता है। प्रत्येक व्यक्तिके उच्चतम आदर्शको ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी, अज्ञानी, साधु, असाधु, पुरुष, स्त्री, शिक्षित, अशिक्षित मनुष्यमात्रका उच्चतम आदर्श ईश्वर है। सम्पूर्ण सौन्दर्य्य, महत्व और शक्तिके उच्चतम आदर्शोंके मिले हुए रूपमें प्रेममय और प्रेमास्पद भगवान्का पूर्णभाव पाया जाता है। ये आदर्श किसी न किसी रूपमें प्रत्येक व्यक्तिके मनमें स्वभावतः वर्त्तमान हैं और ऐसे वर्त्तमान हैं कि मानों मनके अंग या अंशविशेष बन गये हैं। मानव-प्रकृतिमें जिन क्रियाओंका विकास देख पड़ता है वे सब आदर्शोंको व्यावहारिक जीवनमें परिणत करनेकी चेष्टा-स्वरूप हैं। समाजमें जितने काम और आन्दोलन होते हुए देख पड़ते हैं वे सब केवल भिन्न भिन्न आत्माओंके भिन्न भिन्न आदर्शोंको

कार्य्यमें परिणत करनेकी चेष्टाओंके परिणाम हैं। जो भीतर है वह बाहर आना चाहता है। मानव-हृदयमें आदर्शों का यह प्रबल प्रभाव ही सर्वनियंत्री महाशक्ति है, जिसकी क्रिया मानव-जातिमें सदा होती रहती है। संभव है सैकड़ों जन्ममें सहस्रों वर्षतक चेष्टा करनेपर मनुष्य यह समझ सके कि आभ्यन्तरिक आदर्श बाहरकी अवस्थाओंके साथ पूर्णरूपसे नहीं मिल सकता। किन्तु जब समझ जायगा तब वाह्यजगत्‌को अपने आदर्शके अनुसार गढ़नेकी चेष्टा छोड़ देगा और उच्चतम प्रेमके साथ अपने आदर्शकी उपासना आदर्श रूपमें करना प्रारम्भ कर देगा। वह समझ लेगा कि अन्य सब आदर्श इस आदर्शके भीतर हैं। प्रेम-में ऊंच-नीचका विचार नहीं होता। साधारण लोग अपात्र कहकर पुकार सकते हैं, परन्तु प्रेमी ऊंच-नीच नहीं देखता, उसके लिये नीच भी ऊंचा है। वास्तवमें वह आदर्श जिसका आधार प्रेम है, केन्द्र बन जाता है और उसके चारों ओर आदर्श घिर आते हैं। जगत् साधारणतः किसकी उपासना करता है? अपने हृदयस्थ आदर्शकी। प्रत्येक व्यक्ति अपने आदर्शको बाहर लाकर उसके सामने प्रणाम करता है। इसी-लिये देखा जाता है कि जो लोग निष्ठुर और रक्त-पिपासु हैं वे रक्तपिपासु ईश्वरकी उपासना करते हैं क्योंकि वे केवल अपने आदर्शसे प्रेम करते हैं। साधुओंके ईश्वरका आदर्श बड़ा ऊंचा है उस आदर्शसे दूसरोंका आदर्श बिलकुल अलग है।

प्रेमीके लिये भगवान्‌का प्रमाण भगवान् ही है

जिस प्रेमीने स्वार्थपरता और फल-प्राप्तिकी इच्छा त्याग दी है और जिसे कोई भय नहीं है उसका आदर्श क्या है? महा-महिमामय ईश्वरसे भी वह कहता है कि 'मैं तुम्हें अपना सर्वस्व देता हूं पर तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता।" वास्तवमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम अपनी कह सकें, जब मनुष्य इस अवस्था-को पहुंच जाता है तब उसका आदर्श पूर्ण प्रेमका आदर्श हो जाता है और वह प्रेम-जनित पूर्ण निर्भीकताके आदर्शमें परिणत हो जाता है। ऐसे पुरुषके सर्वोच्च आदर्शमें फिर कोई विशेषत्व रूप संकीर्णता नहीं रहती। सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त प्रेम और असीम प्रेम, प्रेमस्वरूप वा पूर्ण स्वतंत्र प्रेमका आकार धारण करता है। प्रेम-धर्मके इस महान् आदर्शको अपना लेनेपर भक्त प्रतिमा आदिकी सहायताके बिना ही तद्रूपकी उपासना करता है। किसी सार्वभौमिक आदर्शको आदर्श मानकर उपासना करना ही सर्वोत्कृष्ट पराभक्ति है। अन्य जितने प्रकारकी भक्ति हैं वे सब इसी पराभक्तितक पहुंचनेकी सीढ़ीमात्र हैं, इस प्रेम-रूप धर्मपदका अनुसरण करते करते हमे जो सफलतायें और विफलतायें होती हैं वे सभी उसी आदर्श-प्राप्तिमे सहायक होती हैं। एकके बाद एक वस्तु ग्रहण की जाती है और हमारा आभ्यन्तरिक आदर्श उसपर एक एक करके डाला जाता है। धीरे

धीरे आभ्यन्तरिक आदर्शोंका प्रकाशक भक्त, विस्तारशील वाह्य वस्तुओंको जान जाता है और उन्हें अनुपयुक्त समझकर स्वभावतः एक एक करके छोड़ता जाता है। अन्तमें वह साधक समझ जाता है कि वाह्य वस्तुओंमें आदर्शको प्राप्त करनेकी चेष्टा करना वृथा है। आदर्शकी तुलनामें ये सब बाहरी वस्तुएं अति तुच्छ हैं। क्रमशः भक्त हृदयमें ही उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण सूक्ष्म आदर्शको पूर्ण, सजीव और सत्य रूपमें अनुभव करनेका सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। भक्त जब इस अवस्थामें पहुंच जाता है तब 'भगवान हैं या नहीं?' 'भगवन सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान हैं या नहीं?' आदि प्रश्न भक्तके मनमें उठते ही नहीं, वह भगवान्को प्रेममय और प्रेमका सर्व्वोच्च आदर्श समझता है और यही समझना उसके लिये यथेष्ट है। उसके लिये भगवान्का प्रेमरूप होना स्वतः सिद्ध है, दूसरे प्रमाणोंकी उसे आवश्यकता नहीं, प्रेमीको प्रेमपात्रके अस्तित्वके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्यान्य धर्मोंके विचारकस्वरूप भगवान्को प्रमाणित करनेके लिये अनेक प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है। किन्तु भक्त भगवानके सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा नहीं कर सकता या नहीं करता है। उसके सामने भगवान् केवल प्रेम-स्वरूपमें वर्त्तमान रहते हैं। "पतिसे प्रेम पतिके लिये नहीं किया जाता वरन् पतिके आन्तरिक आत्माके लिये पतिसे प्रेम किया जाता है। पत्नीको पत्नीके लिये प्यार नहीं किया जाता, वरन् पत्नीके आन्तरिक आत्माके लिये किया जाता है

किसी किसीका कहना है कि, मनुष्यके सब कामोंकी जड़ स्वार्थपरता है। मेरी समझमें वहां भी प्रेम है। हां, विशिष्टताके कारण गिर गया है। हम जब अपनेको संसारके सम्पूर्ण पदार्थों-में स्थित समझने लगते हैं तब हममें स्वार्थपरताका भाव नहीं रह सकता, पर जब हम भ्रममें पड़कर अपनेको क्षुद्र समझते हैं तब प्रेम संकीर्ण और सीमाबद्ध हो जाता है। प्रेमके विषयको संकीर्ण और सीमाबद्ध करना भूल है। इस जगत्‌की सभी वस्तुयें भगवान्‌से उत्पन्न हैं इसलिये प्रेम करनेके योग्य हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि समष्टिका प्रेम करने-से अंशका प्रेम करना भी हो जाता है। यह समष्टि ही भक्तके लिये भगवान् है। दूसरे प्रकारके ईश्वर जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अनेक मत-मतान्तर, शास्त्र आदि भक्तके लिये निर-र्थक हो जाते हैं, इनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि पराभक्तिके प्रभावसे वह इन सबके ऊपर पहुंच चुका है। जब भक्तका अन्तःकरण शुद्ध, पवित्र, और ईश्वर-प्रेमसे पूर्ण हो जाता है तब वह ईश्वर-सम्बन्धी दूसरी सब धारणाओंको बालकोंके लिये उचित, असंपूर्ण और अनुपयुक्त समझ त्याग देता है। वास्तविक पराभक्तिका प्रभाव ही यह है, उच्च अवस्थाका भक्त भगवान्‌को मन्दिरोंमें ढूंढ़ने नहीं जाता, वह कोई ऐसा स्थान नहीं देखता जहां भगवान न हों। वह भगवान्‌को मन्दिरके भीतर, बाहर सर्वत्र देखता है। वह भगवान्‌को साधुकी साधुतामें और पापीके पापमें देखता है क्योंकि वह पहले ही नित्य दीप्तिमान्,

नित्य वर्त्तमान, एक, सर्वशक्तिमान, अनिर्वाण, स्व-महिमा-विराजित भगवान्‌को अपने हृदयमें प्रेम-ज्योति रूपसे साक्षात् कर चुका है।

मानवीय-भाषामें भगवत्-प्रेमका वर्णन

मानवीय-भाषाके द्वारा प्रेमके इस परम उच्च और पूर्ण आदर्श-का परिचय देना असम्भव है। मनुष्यकी ऊंचीसे ऊंची कल्पना भी उसकी अनन्त पूर्णता और उसके सौन्दर्य्यको अनुभव करनेमें असमर्थ है। तथापि सब देशके प्रेम-धर्मके नीच-ऊंच दोनों अवस्थाओंके उपासकोंको अपने प्रेमका आदर्श अनुभव करने और उसका लक्षण समझनेमें अपने उपासकोंको अपने प्रेमका सदासे, सभी जगह मानवीय-भाषाका व्यवहार करना पड़ा है। केवल यही नहीं, इस अव्यक्त भगवत्-प्रेमको समझनेके लिये भिन्न भिन्न प्रकारके मानवीय प्रेमोंको ही प्रतीक रूपमें लेना पड़ा है। मनुष्य ईश्वर-सम्बन्धी सम्पूर्ण चर्चा अपने मानवीय भावोंमें ही प्रकाशित कर सकता है। भगवान् पूर्ण और एक है, बस इतना ही इस अपूर्ण मानवीय-भाषामें कहा जा सकता है। संसार क्या है? इसका उत्तर सान्त-भाषामें अनन्त लिखा गया है। इसीसे भक्त भगवान् और प्रेमकी उपासनाके लिये लौकिक प्रेम और लौकिक शब्दोंका व्यवहार करते हैं। पराभक्तिकी व्याख्या

करनेवालोंमें बहुतोंने भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें पराभक्तिको समझने और प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी चेष्टा की है। इनमें सबसे निम्नतम अवस्थाको शान्त-भक्ति कहते हैं। जबतक उपासकके हृदयमें प्रेमकी आग नहीं भड़की, उसकी बुद्धि प्रेमकी उन्मत्ततामें लीन नहीं हुई, बाहरी साधनाओं और वाह्य भक्तिसे केवल सामान्य रूपका प्रेम उदय हुआ है, उसमें तीव्र वेगभरी उन्मत्तताके लक्षण नहीं प्रकट हुए, तबतक वह शान्त-भक्ति अथवा शान्त-प्रेमकी अवस्थामें है। जगत्में बहुतसे ऐसे लोग हैं जो साधनाके मार्गमें धीरे धीरे आगे बढ़ते हैं और बहुतसे ऐसे हैं जो बड़े वेगके साथ। शान्त-भक्त धीर, शान्त और नम्र होता है।

शान्त-भक्तिसे ऊंची अवस्था दास्य-भक्ति की है। इस अवस्थामें भक्त अपनेको ईश्वरका दास समझता है। विश्वासी सेवकमें जो प्रभु-भक्ति होती है, वही उसका आदर्श होता है।

इसके पश्चात् सख्य-प्रेम है। सख्य-प्रेमकी साधना करनेवाला भगवान्से कहता है—"तुम मेरे प्रिय बन्धु हो, सखा हो।"* जैसे मित्र अपने मित्रके सामने जी खोलकर बातें करता है, वह जानता है कि मेरे दोषोंको सुनकर मित्र मेरा तिरस्कार न करेगा, वरन् मेरी भलाई करनेकी चेष्टा करेगा। दोनोंमें समानताका भाव रहता है। वैसे ही साधक और भगवान्में समान-

* त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

पाण्डव गीता।

ताका भाव होता है। वह अपने जीकी सम्पूर्ण बातें खोलकर भगवान्‌से कहता है। हृदयके गुप्त भावोंको प्रकट करता है, उसे पूरा भरोसा रहता है कि एक मित्रके समान भगवान् वही करेंगे जिसमें उसका मंगल होगा। वह पूर्ण रूपसे निश्चिन्त रहता है। इस अवस्थामें भक्त भगवान्‌को ठीक अपने समान समझता है। वह जानता है कि भगवान् साथके खेलाड़ी हैं। जगत्‌में खेल हो रहा है। जैसे बच्चे खेल खेलते हैं, जैसे महा प्रतापी राजा महाराजा अपना खेल खेलते हैं वैसे ही प्रमके आधार भगवान् भी जगत्‌के साथ खेल खेल रहे हैं। भगवान पूर्ण हैं, वे अभावहीन हैं। भगवान्‌को सृष्टि रचनेकी क्या आवश्यकता थी? जगत्‌में जो कुछ हो रहा है क्यों हो रहा है?—इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि जगत्‌का कार्य्य किसी अभावकी पूर्त्तिके लिये है तो अभाव कहनेसे भगवान्‌में असम्पूर्णता आ जाती है। भगवान इस नियत कर्ममय सृष्टिमे क्यों लगे हैं? इससे उनका क्या उद्देश्य है? इन प्रश्नोंके उत्तरमें मनुष्यने जितने उपन्यास गढ़े हैं वे गल्पके विचारसे बड़े सुन्दर हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कोई मूल्य नहीं है। वास्तवमे सब खेल है, जगत् भगवान्‌का खेल है, और सदासे यह खेल होता आ रहा है। ईश्वरके लिये सम्पूर्ण जगत् एक सुन्दर खेल-मात्र है। जो निरा कंगाल है उसे अपनी कंगालीको खेल समझना चाहिये और जो अमीर है उसे अपनी अमीरीको खेल समझकर भोगना चाहिये। विपद् आवे तो उसे भी मनुष्य

सुन्दर खेल समझे और सुख मिले तो उसे भी सुन्दर खेल माने। जगत् केवल क्रीड़ा-क्षेत्र—खेलका मैदान—है। बड़ा सुन्दर खेल हो रहा है। हमलोग भगवान्‌के साथ खेल रहे हैं और भगवान् हमारे साथ। भगवान् अनन्त कालसे खेल रहे हैं। बड़े सुन्दर खेलाड़ी हैं और हम लोग अनन्त कालसे उनके साथ खेलनेवाले साथी हैं। कितना सुन्दर खेल खेल रहे हैं! खेल समाप्त हुआ, एक युगका अन्त हुआ। थोड़े समयके लिये विश्राम और फिर खेल आरम्भ—फिर जगत्‌की रचना हुई। मनुष्य जब यह भूल जाता है कि यह सब खेल है और इस खेलका मैं सहायक हूं तब—केवल तभी—दुःख और कष्टोंमें पड़ जाता है। उसका जीवन भार हो जाता है और संसार एक बड़ा भारी बोझ बनकर उसे दबा देता है। किन्तु जब इस दो घड़ीके जीवनकी परिवर्त्तनशील घटनाओंको सत्य समझना छोड़ देता है और संसारको खेलका स्थान तथा अपनेको खेलका सहायक जान लेता है तो सब दुःख चले जाते हैं। प्रत्येक अणुके साथ भगवान् खेल रहे हैं। उन्होंने खेलते खेलते पृथ्वी, सूर्य्य, चन्द्र, तारागणों आदिकी रचना की है। वे प्राणिमात्रके साथ उद्भिदोंके साथ भी खेल रहे हैं। हमलोग ज्ञात अथवा अज्ञात भावसे उनके खेलके सहायक हैं। अहा, कितने आनन्दकी बात है! हम भगवानके खेलनेमें साथी हैं!

इसके बाद वात्सल्य प्रेमकी अवस्था है, इसमें भगवानको पिता न मानकर संतान मानना पड़ता है। यह एक नई बातसी

जान पड़ती है, किन्तु इसका उद्देश्य उपासकके हृदयसे ऐश्वर्यकी—सांसारिक वैभवकी—सब भावना दूर कर देना है। ऐश्वर्य्यके साथ भय रहता है और भय रहते हुए प्रेम नहीं हो सकता। यद्यपि चरित्रगठनके लिये भक्ति और आज्ञापालनके भावको आवश्यकता है, किन्तु जब चरित्रसंगठन हो गया—भक्तने शान्त-प्रेमका कुछ स्वाद पा लिया और उसे तीव्र उन्मत्तताका भी कुछ आभास मिल गया, तब उसके लिये इनकी आवश्यकता नहीं रहती, नीति-शास्त्र और साधन-नियम उसके लिये सब निरर्थक हो जाते हैं। भक्त अब भगवान्‌को महामहिम, ऐश्वर्य्यशाली, जगन्नाथ आदि रूपोंमें नहीं देखना चाहता, भय उपजानेवाले ऐश्वर्य्यके भावको दूर करनेके लिये वह भगवान्‌को सन्तान रूपमें देखता है। मां, बाप अपने बच्चोंसे नहीं डरते, न उन्हें बच्चोंपर भक्ति रखनेकी आवश्यकता होती है, वे उनसे कुछ मांगते भी नहीं, वरन् बच्चे ही सदा पानेके अधिकारी होते हैं। सन्तान-प्रेमके लिये मां, बाप सौ सौ बार शरीर त्यागनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं, वे एक सन्तानके लिये अपने सहस्रों जीवन उत्सर्ग करनेको उद्यत रहते हैं। इसी प्रकार वात्सल्य-भावमें भगवान्‌से सन्तान-प्रेम किया जाता है। जिन सम्प्रदायोंमें भगवान्‌का अवतार माना जाता है उन सम्प्रदायोंके माननेवाले वात्सल्य-भावकी उपासना बड़ी सरलतासे कर सकते हैं। मुसलमानोंके लिये भगवान्‌को सन्तान-रूपमें सोचना बड़ी कठिन बात है, वे भयभीत होकर इस

भावसे दूर रहते हैं। किन्तु ईसाई और हिन्दू बड़ी सरलतासे इस भावकी उपासना कर सकते हैं, क्योंकि उनके यहां ईसा और कृष्ण बालक-रूपमें रहे हैं। भारतीय स्त्रियां बहुधा अपनेको कृष्ण-जननीके रूपमें देखती हैं। ईसाई स्त्रियां भी अपनेको ईसाकी माताके रूपमें देख सकती हैं। यदि पश्चिममें यह विचार फैले तो इससे वहां ईश्वरके मातृ-भावका ज्ञान हो सकता है, जिसकी वहां बड़ी आवश्यकता है। भय-भक्तिके कुसंस्कारकी जड़ मनुष्यके हृदयमें इतनी दृढ़ हो गयी है कि उसे उखाड़नेमें— इस भय-भक्ति और ऐश्वर्यकी महिमाके भावको प्रेमके भीतर डुबो देनेमें बहुत समय लग जाता है।

मनुष्यने प्रेमके इस ईश्वरीय आदर्शको एक और प्रकारसे प्रकाशित किया है। वह बड़ा मधुर है और मानवीय प्रेममें सबसे ऊँचा है। जगत्के सर्वोच्च प्रेमके ऊपर उसकी नींव है और यह मानवीय प्रेमोंमे सबसे प्रबल है। स्त्री-पुरुषका प्रेम मनुष्यको सम्पूर्ण प्रकृतिको उलट पलट देता है। यह सामर्थ्य और किसी प्रेममे है? और किस प्रेममें यह बल है कि मनुष्यके प्रत्येक परमाणुमें फैलकर उसे पागल बना दे, उसे अपने आपेसे भुला दे और उसे देवता या पशु बना डाले? इस मधुर प्रेमके द्वारा भगवान्की चिन्ता पति-रूपमे की जाती है। मानव-समुदाय स्त्रीके रूपमें माना जाता है, जगत्में कोई पुरुष नहीं होता, भक्त-के लिये केवल एक पुरुष भगवान् ही होते हैं। इस मार्गमें पुरुष स्त्रीको और स्त्री पुरुषको जो प्रेम देकर प्यार करते हैं, वही प्रेम

भगवान्‌को अर्पण करना होता है। जगत्‌में जितने प्रकारके प्रेम दिखलायी पड़ते हैं, जितने प्रकारके प्रेमसे मनुष्य कम या अधिक परिमाणमें खेलता रहता है उन सब प्रेमोंके एकमात्र लक्ष्य भगवान् हैं। प्रेमकी महान् नदी सदा अनन्त समुद्रकी ओर बहती रहती है; किन्तु खेदकी बात है कि मनुष्य इसे नहीं समझता और नासमझकी भांति मनुष्यरूप क्षुद्र पुतलोंके प्रति इस प्रेमका प्रयोग करनेकी चेष्टा करता है। मानव-प्रकृतिमें सन्तानके लिये जो प्रबल स्नेह पाया जाता है वह केवल सन्तान-रूप क्षुद्र पुतलेके लिये नहीं है। अन्धभावसे मनुष्य इस प्रेमको जब केवल सन्तानके ऊपर लगा देता है तो उसे एक विशेष सुख भोगनेको मिलता है, परन्तु इसी भोगसे वह यह भी समझ जाता है कि प्रेमको मनुष्यके ऊपर लगा देना देर-सबेर अशान्तिको अपने पास बुलाना है। इसलिये इस प्रेमको उस पुरुषोत्तमपर लगाना चाहिये जिसका विनाश नहीं होता, जिसमें कभी परि-वर्त्तन नहीं होता और जिसके प्रेम-समुद्रमें कभी ज्वार-भाटा नहीं आता। प्रेमको मानों अपने प्रकृत लक्ष्यमें पहुँचना है, वहां पहुँचना है जहां वास्तवमें प्रेमका समुद्र है। नदियां समुद्रमें पहुंचती हैं। एक जल-बिन्दु तक पर्वतसे गिरकर, नदीमें होकर किसी न किसी रूपसे समुद्रमें प्रवेश करता है। भगवान् मनु-ष्योंके सब प्रकारके भावोंके एकमात्र लक्ष्य हैं। यदि रोष करना है तो भगवान्‌के प्रति रोष करना चाहिये। अपने प्रियतमको, मित्रको धमकाना चाहिये, उसके अतिरिक्त और किसका निर्भय

तिरस्कार किया जा सकता है? मनुष्य तो किसीका रोष न सहेगा। यदि कोई मनुष्योंपर रोष प्रकट करना चाहता हो तो इसका बदला चुकानेके लिये भी उसे तैयार रहना चाहिये। इस अवस्थाका प्रेमी भगवानसे पूछता है कि तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? मुझे अकेला क्यों छोड़ दिया है? क्या तुमसे अलग रहकर मुझे आनन्द मिल सकता है? क्या इन छोटे छोटे मिट्टीके खिलौनोंसे सुख मिल सकता है? मनुष्यको चाहिये कि अनन्त आनन्दके कोषको खोजे, भगवान् अनन्त आनन्दके कोष हैं। वास्तवमें मानव-प्रकृत्ति, भाव आदि सब उन्हींके पास जा रहे हैं, सब उन्हींके लिये हैं। लक्ष्यभ्रष्ट हो जानेपर ये प्रवृत्तियां और भाव आदि कुत्सित रूप धारण कर लेते हैं। और यदि ये ठीक लक्ष्यपर हैं तो मनुष्य भगवान्के पास पहुंच जाता है। लक्ष्य ठीक होनेपर मनुष्यकी महानीच वृत्ति भी दूसरे रूपमें आ जाती है। मनुष्यके मन और शरीरकी शक्तियां चाहे जिस प्रकार प्रकाशित हो रही हों, सबके एकमात्र लक्ष्य भगवान् हैं। इसलिये मानव-हृदयका सब प्रेम, सब प्रवृत्ति एक भगवानकी ओर जाना चाहिये। अकेले वही एक प्रेम करनेके योग्य हैं। मनुष्य भगवान्को छोड़कर और किसका प्यार करेगा? वे महान्से महान् और सुन्दरसे सुन्दर हैं। जगत्में उनसे अधिक सुन्दर और कौन है? उनको छोड़कर जगत्में स्वामी होने योग्य और कौन है? उनके अतिरिक्त जगत्में प्रेमका उपयुक्त पात्र और कौन है? इसलिये मनुष्यके वही स्वामी हैं और वही

प्रेमास्पद हैं। प्राय: भक्तगण भगवत्-प्रेमका वर्णन करनेके लिये मानवीय-प्रेम-भाषाका व्यवहार करते हैं। मूर्ख लोग इस वर्णनको नहीं समझते, समझ भी कैसे सकते हैं! वे इसे जड़-दृष्टिसे देखते हैं, यही कारण है कि वे इस आध्यात्मिक-प्रेमकी उन्मत्तताको नहीं समझ सकते। कैसे समझेंगे?—"हे प्रियतम, अपने अधरसे केवल एक बार मेरा चुम्बन करो, जिसको तुमने एक बार चूमा तुम्हारे लिये उसकी पिपासा और बढ़ जाती है। उसके सब दुख दूर हो जाते हैं, वह तुम्हें छोड़कर और सब भूल जाता है।"* हे मनुष्यो, प्रियतमके उसी चुम्बन-अधरके उसी स्पर्शके लिये व्याकुल हो जाओ जो भक्तको पागल कर देता है और मनुष्यको देवता बना देता है। भगवान्ने जिसको एक बार अपना अधरामृत देकर कृतार्थ किया, उसके लिये जगत् कुछ नहीं रहता—सूर्य्य और चन्द्र अस्तित्वहीन हो जाते हैं—और जगत्का सम्पूर्ण प्रपञ्च अनन्त प्रेम-समुद्रमें डूब जाता है। यह प्रेमोन्मत्तताकी चरम सीमा है, प्रकृत-भगवत्-प्रेमी इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसकी दृष्टिमें पुरुष-पत्नीका प्रेम भी यथेष्ट उन्मादकर नहीं होता। इसलिये वह अवैध (परकीय) प्रेमभाव ग्रहण करता है क्योंकि यह अत्यन्त प्रबल होता है। अवैध प्रेमकी अवैधता उसका लक्ष्य नहीं होती।

* सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
—श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय ३१ १४ श्लोक

इस प्रेमकी प्रकृति यह है कि यह जितना ही रोका जाता है उतना ही उग्र होता जाता है। पुरुष-पत्नीका प्रेम अबाध है उसमें बाधायें और विघ्न नहीं हैं। इसलिये भक्त कल्पना करते हैं कि मानों एक बालिका अपने प्रियतम पुरुषपर आसक्त है, परन्तु उसके पिता, माता और स्वामी इस प्रेमके विरोधी हैं; इस प्रेम-में जितनी ही बाधायें डाली जाती हैं उतनाही यह प्रेम और प्रबलभाव धारण करता जाता है। श्रीकृष्ण वृन्दावनमें जिस प्रकार लीला करते थे, सब कोई उनसे उन्मत्त होकर जिस प्रकार प्रेम करते थे, गोपियां—भाग्यवती गोपियां—सब भूलकर, जगत् भूलकर, जगत्के बन्धन कर्त्तव्य, सुख दुःख—सब भूलकर कृष्णके दर्शनोंके लिये जिस प्रकार दौड़ आती थीं, उसका वर्णन मानवीय-भाषा नहीं कर सकती। मनुष्य ईश्वर-प्रेमकी चर्चा करता है और जगत्के भ्रमात्मक विषयोंमें भी लगा रहना चाहता है, पर दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? जहां राम हैं वहां काम नहीं रह सकता और जहां काम है वहां राम नहीं रह सकते।"* प्रकाश और अन्धकार कभी एक साथ नहीं रहते।

* जहां राम तहँ काम नहिं,
जहाँ काम नहिं राम।
—तुलसीदास

उपसंहार

जब प्रेमका यह उच्चतम आदर्श प्राप्त हो जाता है तब ज्ञान नहीं रह जाता। इस आदर्शको पाकर फिर भला किसे ज्ञानकी इच्छा होगी? मुक्ति—उद्धार होना—निर्वाण ये सब भी न जाने कहां विलीन हो जाते हैं। जिसे ईश्वर-प्रेम विलसनेको मिल गया है वह मुक्त होना क्यों चाहने लगा? भक्त कहता है—"हे भगवन्, मैं धन, जन, सौन्दर्य्य, विद्या यहांतक कि मुक्ति भी नहीं चाहता, जन्म जन्मान्तर में तुम्हारी केवल अहेतुकी भक्ति चाहता हूं।" भक्तकी धारण होती है कि स्वयं शक्कर बन जानेकी अपेक्षा शक्कर खाना अच्छी बात है। इस धारणापर वह क्यों मुक्त होनेकी इच्छा करने लगा? भगवान्‌में मिल जाना वह क्यों चाहने लगा? भक्त जानता है कि 'भगवान और मैं एक ही हूं' फिर भी वह अलग रहकर प्रियतमको सम्भोग करना—विलसना—चाहता है। प्रेमके लिये प्रेम है—इसीमें सर्व्वोच्च सुख है। प्रियतमको सम्भोग करने-विलसने—के लिये कौन बार बार बन्धनमें पड़ना न चाहेगा? भक्त प्रेमके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं चाहता। वह भगवान्‌को प्यार करता है और चाहता है कि भगवान् मुझे प्यार करें। प्रेमी मानों नदीके निकलनेके स्थानकी ओर बहावके प्रतिकूल जाता है। जगत् उसे पागल कहता है, वह उत्तर देता है,—"भाई, समूचा जगत् एक बड़ा पागलखाना है, यहां कोई सांसारिक प्रेमके लिये, कोई नामके लिये, कोई यशके लिये, कोई

धनके लिये, कोई स्वर्गके लिये और कोई मुक्तिके लिये पागल हो रहा है। इस विशाल पागलखानेका एक मैं भी पागल हूं। मैं भगवान्‌के लिये पागल हूं। तुम रुपयेके लिये पागल हो, मैं ईश्वरके लिये पागल हूं, तुम भी पागल हो, मैं भी पागल हूं। मेरी समझमें मेरा यह पागलपन सबसे अच्छा है।" प्रकृत-भक्तका प्रेम ऐसा ही तीव्र और उन्मत्त है, उसकी हवामें सब कुछ उड़ जाता है। समस्त संसार उसके लिये प्रेम है, उसे प्रतीत होता है कि सारा संसार ही प्रेमसे सराबोर है। मनुष्यके हृदयमें जब यह प्रेम घर कर लेता है तब वह सदाके लिये सुखी और मुक्त हो जाता है। केवल भगवत्-प्रेमकी यह पवित्र उन्मत्तता ही हमारे हृदयकी संसार-व्याधिको आरोग्य कर सकती है।

प्रेमके धर्ममें हमें द्वैतभावका अवलम्बन करना पड़ता है। हम समझते हैं कि भगवान् हमलोगोंसे भिन्न वस्तु हैं और हम लोग भी उनसे भिन्न हैं। प्रेम हम दोनोंके बीचमें आकर जब मिलन कराता है तब हमलोग भगवान्‌के निटवर्ती होते जाते हैं और वह भी क्रमशः हमलोगोंके निकट आते जाते हैं। मनुष्य पिता, माता, पुत्र, सखा, स्वामी, और प्रणयी आदिके संसारिक सम्बन्धोंको बटोरकर एक भगवत्-प्रेमके आदर्शको अपना लक्ष्य बना लेता है। उसके लिये भगवान् इन सब रूपोंमें विराजमान हैं। जब वह अपने उपास्य देवतामें सम्पूर्णरूपसे निमग्न हो जाता है तभी वह अपनी उन्नतिकी चरमसीमापर पहुंचता है। हम

पहली अवस्थामें सभीको प्यार करते हैं। इस क्षुद्र अहंभावकी अनुचित रीति प्रेमको भी स्वार्थमय बना देती है। पर अन्तमें पूर्ण ज्ञानज्योतिका विकास होता है और यह क्षुद्र अहंभाव उस अनन्त प्रेममें विलीन हो जाता है। ऐसे दृष्टान्त अकसर देखनेमें आते हैं। मनुष्य स्वयं उस प्रेमज्योतिके सम्मुख एकबारगी बदल जाता है। पहले उसके भीतर जो थोड़ा बहुत मैल और वासनायें थीं वह सब धुल जाती है और अन्तमें इस सत्यका अनुभवकर वह उन्मत्त और मुग्ध हो जाते हैं कि, प्रेमिक और प्रेमास्पद एक ही हैं।

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

-: का :-

सूचीपत्र

—*—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी माला

-: के :-

स्थायी ग्राहकोंके लिये नियम—

१—प्रत्येक व्यक्ति ॥) आने प्रवेश शुल्क जमाकर इस मालाका स्थायी ग्राहक बन सकता है।

२—स्थायी ग्राहकोंको मालाकी प्रकाशित प्रत्येक पुस्तकें पौने मूल्यमें मिल सकेंगी।

३—स्थायी ग्राहक मालामें प्रकाशित प्रत्येक पुस्तककी एकसे अधिक प्रतियां पौने मूल्यमें मगा सकेंगे।

४—पूर्व प्रकाशित पुस्तकोंको लेने न लेनेका पूर्ण अधिकार स्थायी ग्राहकोंको होगा, पर नव प्रकाशित पुस्तकोंमेंसे कमसे कम आधे मूल्यकी पुस्तकें ग्राहकोंको लेनी होगी, अर्थात् एक वर्षमें जितनी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, उनमेंसे आधे मूल्यकी पुस्तकें उन्हें नियमानुसार लेनी होंगी; किसी भी हालतमें ६) रु० से कम लागतकी पुस्तकें न हों।

५—पुस्तक प्रकाशित होते ही उसकी सूचना स्थायी ग्राहकोंके

पास भेज दी जाती है। स्वीकृति मिलनेपर पुस्तक वी० पी० द्वारा सेवामें भेजी जाती है। जो ग्राहक वी० पी० नहीं छुड़ावेंगे उनका नाम स्थायी ग्राहकोंकी श्रेणीसे काट दिया जायगा।

६—यदि उन्होंने वी० पी० न छुड़ानेका कोई यथेष्ट कारण बतलाया और वी० पी० खर्च (दोनों बारका) देना स्वीकार किया तो उनका नाम ग्राहकश्रेणीमें पुनः लिख लिया जायगा।

७—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी मालाके स्थायी ग्राहकोंको मालाकी नव प्रकाशित पुस्तकोंके साथ अन्य प्रकाशकोंकी कमसे कम ६) रु० के लागतकी पुस्तकें भी पौने मूल्यमें दी जायंगी। पुस्तकोंकी नामावली नव प्रकाशित पुस्तककी सूचनाके साथ भेजी जाती है।

८—हमारा वर्ष विक्रमीय संवत्से आरम्भ होता है।

मालाकी विशेषतायें

१—सभी विषयोंपर सुयोग्य लेखकों द्वारा पुस्तकें लिखायी जाती हैं।

२—वर्तमान समयके उपयोगी विषयोंपर अधिक ध्यान दिया जाता है।

३—मौलिक पुस्तकें ही प्रकाशित करनेकी अधिक चेष्टा की जाती है।

४—पुस्तकोंको सुलभ और सर्वोपयोगी बनानेके लिये कमसे कम मूल्य रखनेका प्रयत्न किया जाता है।

५—गम्भीर और रुचिकर विषय ही मालाको सुशोभित करते हैं।

६—स्थायी साहित्यके प्रकाशनका ही उद्योग किया जाता है।

१—सप्तसरोज

लेखक—श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

प्रेमचन्दजी अपनी प्रतिभा, मानवभावोंकी अभिज्ञता, वर्णन-पटुता, समाजज्ञान, कल्पनाकौशल तथा भाषाप्रभुत्वके कारण हिन्दी संसारमें अद्वितीय लेखक माने गये हैं। यह कहानियां इन्हींकी प्रतिभाकी ज्योति हैं। इस "सप्तसरोज" में सात अति मनोहर उपदेशप्रद गल्पें हैं, जिनका भारतकी प्रायः सभी भाषाओं-में अनुवाद निकल चुका है। हिन्दी संसारने इसे कितना पसन्द किया इसका अनुमान केवल इसीसे होगा कि यह हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी प्रथमा परीक्षा तथा कई राष्ट्रीय पाठशालाओंके कोर्समें और सरकारी युनिवर्सिटियोंकी प्राइज लिस्टमें है। अर्थात् राजा और प्रजा दोनोंने इसका आदर किया है। थोड़े ही समयमें यह चौथा संस्करण आपकी भेंट है। मूल्य केवल ॥)

२—महात्मा शेखसादी

लेखक—श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

फारसी भाषामें बड़े प्रसिद्ध और शिक्षाप्रद गुलिस्तां और बोस्तांके लेखक महात्मा शेखसादीका बड़ा मनोरंजक और उपदेशप्रद जीवन चरित्र, अनूठा भ्रमण वृतान्त विख्यात गुलिस्तां और बोस्तांके उदाहरणों द्वारा आलोचना, चुनी हुई कहावतें, नीतिकथायें, ग़ज़लें, कसीदे इत्यादिका मनोरञ्जक संग्रह किया गया है। इसमें महात्मा शेखसादीका ३०० वर्षका पुराना चित्र भी दिया गया है जिससे पुस्तकके महत्वके साथ साथ इसकी सुन्दरता भी बढ़ गई है। दूसरा संस्करण मूल्य ॥)

३—विवेक वचनावली

लेखक—स्वामी विवेकानन्द

जगत्प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दजीके बहुमूल्य विचारों और अद्भुत उपदेशोंका बड़ा मनोरंजक संग्रह। बड़ी सीधी साधी और सरल भाषामें, प्रत्येक बालक, स्त्री, वृद्धके पढ़ने तथा मनन करने योग्य। दूसरा संस्करण, साफ सुथरी छपाई और बढ़िया चिकने कागजके ४८ पृष्ठोंका मूल्य ।)

४—जमसेदजी नसरवानजी ताता

लेखक—स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी बी० ए०

संसारमें आजकल उसी राष्ट्र या व्यक्तिकी तूती बोल रही है जो उद्योग धन्धे और व्यापारमें बढ़ा चढ़ा है। इन्हीं नरश्रेष्ठोंमें आज भारतका मुख उज्ज्वल करनेवाले श्रीमान् धनकुबेर ताता का नाम है। यह उन्हीं कर्मवीरकी जीवनी बड़ी प्रभावशाली और ओजस्वी भाषामें लिखी गयी है। इस पुस्तकको यू० पी० और विहारके शिक्षाविभागने अपने पारितोषिक-वितरणमें रखा है। दूसरा संस्करण। सचित्र पुस्तकका मूल्य केवल ।)

५—कर्मवीर गांधीके लेख और व्याख्यान

लेखक—गांधीभक्त

इस पुस्तकके सम्बन्धमें कुछ लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। बस, इतना ही समझ लीजिये कि एक वर्षके भीतर पहला संस्करण समाप्त हो गया। दूसरा संस्करण बड़ी सजधजके साथ आपके सामने है। मूल्य १।)

६—सेवासदन

लेखक--श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

हिन्दी-संसारका सबसे बड़ा गौरवशाली सामाजिक उपन्यास, जिसका दूसरा संस्करण प्रायः खतम होनेमें आया है। यह हिन्दीका सर्वोत्तम, सुप्रसिद्ध और मौलिक उपन्यास है। इसकी खूबियोंपर बड़ी आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है। पतित सुधारका बड़ा अनोखा मन्त्र, हिन्दू समाजकी कुरीतियां जैसे अनमेल विवाह, त्यौहारोंपर वेश्यानृत्य और उसका कुपरिणाम, पश्चिमीय ढङ्गपर स्त्रीशिक्षाका कुफल, पतित आत्माओंके प्रति घृणाका भाव इत्यादि विषयोंपर लेखकने अपनी प्रतिभाकी वह छटा फैलायी है कि पढ़नेसे ही आनन्द प्राप्त हो सकता है। दूसरा संस्करण। सादी जिल्द मूल्य २॥) एण्टिक कागज मनोहर स्वदेशी कपड़ेकी जिल्दका ३)

७--संस्कृत कवियोंकी अनोखी सूझ

लेखक--पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०

संस्कृतके विविध विषयोंके अनोखे भावपूर्ण उत्तमोत्तम श्लोकोंका हिन्दी भावार्थ सहित संग्रह। ऐसी खूबीसे लिखा गया है कि साधारण मनुष्य भी पढ़कर आनन्द उठा सकें। व्याख्यानदाताओं, रसिकों और विद्यार्थियोंके बड़े कामकी पुस्तक है। दूसरा संस्करण मूल्य ।≤)

८—लोकरहस्य

लेखक—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुक्त बंकिमचन्द्र चटर्जी

यह 'हास्यरस'का अद्भुत ग्रन्थ है। इसमें वर्तमान धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक त्रुटियोंका बड़े मजेदार भाव और भाषामें चित्र खींचा गया है। पढ़िये और समझ समझकर हँसिये। दिलबहलावके साथ साथ आपको कई विषयोंपर ऐसी शिक्षा मिलेगी कि आप आश्चर्य्यमें पड़ जायंगे। अनुवाद भी हिन्दीके एक प्रसिद्ध और अनुभवी हास्यरसके लेखककी कलमका है। दूसरा संस्करण, बढ़िया एण्टिक कागजपर छपी पुस्तका मूल्य ॥≈)

९—खाद

लेखक—श्रीयुक्त मुख्तारसिंह वकील

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषिके लिये खाद सबसे बड़ा आवश्यकीय पदार्थ है। बिना खादके पैदावारमें कोई उन्नति नहीं की जा सकती। यूरोपवाले खादके बदौलत ही अपने खेतोंमें दूनी चौगूनी पैदावार करते हैं। इसलिए इस पुस्तकमें खादोंके भेद तथा किन अन्नोंके लिये कौन सी खादकी आवश्यकता होती हैं इनका बड़ी उत्तमतासे वर्णन किया गया और चित्रों द्वारा भली प्रकार दिखलाया गया है! इस पुस्तकको प्रत्येक कृषक तथा कृषिप्रेमियोंको अवश्य रखना चाहिये। पहला संस्करण खतम हो चला है। दूसरा संस्करण शीघ्र ही निकलेगा। मूल्य सचित्र और सजिल्दका १)

१०—प्रेम-पूर्णिमा

लेखक—श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

प्रेमचन्दजीकी लेखनीके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने उनके "सप्तसरोज" और "सेवासदन" का रसास्वादन किया है उनके लिये तो कुछ लिखना व्यर्थ है। प्रत्येक गल्प अपने ढंगकी निराली है। जमींदारोंके अत्याचारका विचित्र दिग्दर्शन कराया गया है। भाषाकी सजीविता, भावकी उत्कृष्टता और विषयकी उच्चताका अनूठा संग्रह देखना हो तो इस ग्रन्थको अवश्य पढ़िये। इसमें श्रीयुत "प्रेमचन्द" जीकी १५ अनूठी गल्पोंका संग्रह है। बीच बीचमें चित्र भी दिये गये हैं। दूसरा संस्करण खादीकी सुन्दर जिल्दका मूल्य २)

११—आरोग्य साधन

लेखक—म० गांधी

बस, इसे महात्माजीका प्रसाद समझिये। यदि आप अपने शरीर और मनको प्राकृत रीतिके अनुसार रखकर जीवनको सुखमय बनाना चाहते हैं, यदि आप मनुष्य-शरीरको पाकर संसारमें आनन्दके साथ कुछ कीर्ति कमाना चाहते हैं तो महात्माजीके अनुभव किये हुए तरीकेसे रहकर अपने जीवनको सरल, सादा, स्वाभाविक बनाइये और रोगमुक्त होकर आनन्दसे जीवन लाभ कीजिये। जिन तरीकोंको महात्माजीने बतलाया है वही यहांका प्राचीन प्रचलित तरीका था जिसके मुताबिक काम न करनेसे हमारी दशा इतनी बिगड़ गई है। तीसरा संस्करण १३० पृष्ठका, दाम केवल ।~) मात्र।

१२—भारतकी साम्पत्तिक अवस्था

लेखक—श्रीयुत राधाकृष्ण झा एम० ए०

भारतकी आर्थिक अवस्थाका यदि आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, यदि आप यहांके वाणिज्य व्यापारके रहस्यका मार्मिक भेद जानना चाहते हैं, यदि कृषिकी दुर्व्यवस्था और मालगुजारी तथा अन्यान्य टैक्सोंकी भरमारका रहस्य जानना चाहते हैं, यदि आप यहाँका उत्पन्न कच्चा माल और वह कितनी कितनी संख्यामें विलायतको ढोया चला जाता है, उसके बदलेमें हमें कौन कौनसा माल दिया जाता है, उन आने और जानेवाले मालोंपर किस नियमसे कर बैठाया जाता है, यहां प्रत्येक वर्ष कहीं न कहीं अकाल क्यों पड़ता है? हम दिनपर दिन क्यों कौड़ी कौड़ीके मोहताज होते जाते हैं? इत्यादि बातोंको जानना चाहते हैं तो आपका परम कर्त्तव्य है, कि इस पुस्तकको एक बार अवश्य पढ़ें। पहला संस्करण प्रायः खतम हो रहा है। यह पुस्तक साहित्य सम्मेलनकी परीक्षामें है। ६५० पृष्ठकी खादीकी सुन्दर जिल्दका मूल्य ३॥)

१३—भाव चित्रावली

चित्रकार—श्रीधीरेन्द्रनाथ गङ्गोपाध्याय

१००रङ्गीन और सादे चित्र। भावुकताका अनूठा दृश्य।

इस पुस्तकमें एकही सज्जनके १०० चित्र विविध भावोंके दिखलाये गये हैं। आप देखेंगे और आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि ऐं! सब चित्रोंमें एक ही आदमी! गङ्गोपाध्याय महाशयने अपनी इस कलासे समाज और देशकी बहुतसी कुरीतियोंपर बड़ा जबर्दस्त कटाक्ष किया है। चित्र देखनेसे मनोरञ्जनके साथ साथ आपको शिक्षा भी मिलेगी। सुन्दर खादीकी सुनहरी जिल्द ४)

१४—राम बादशाहके छः हुक्मनामे

स्वामी रामतीर्थजीके छः व्याख्यानोंका उन्हींकी जोरदार भाषामें मय उनके जीवनचरित्रके संग्रह किया गया है। स्वामीजी के ओजस्वी और शिक्षाप्रद भाषणोंके बारेमें क्या कहना है, जिसने अमरीका, जापान और यूरोपमें हलचल मचा दी थी। इन व्याख्यानोंको पढ़कर प्रत्येक भारतवासीको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उर्दूके शब्दोंका फुटनोटमें अर्थ भी दिया गया है। स्वामीजीकी भिन्न २ अवस्थाओंके ३ चित्र भी हैं। बढ़िया एण्टिक कागजपर छपी है। मूल्य खादीकी जिल्दका १।)

१५—मैं नीरोग हूं या रोगी

ले०—डाक्टर लुई कूने

यदि आप सचमुच स्वस्थ रहकर आनन्दसे जीवन बिताना, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंके फन्देसे छुटकारा पाना, प्राकृतिक नियमानुसार रहकर सुख तथा शान्तिका उपभोग करना चाहते हैं तो इस पुस्तकको पढ़िये और लाभ उठाइये। मूल्य केवल ।)

१६—रामकी उपासना

ले०—रामदास गौड़ एम० ए०

स्वामी रामतीर्थसे कौन हिन्दू परिचित न होगा। उनके उपदेशोंका श्रवण और मनन लोग बड़ी ही श्रद्धाभक्तिसे करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उपासनाके विषयमें लिखी गई है। उपासना-की आवश्यकता, उसके प्रकार, परब्रह्ममें मनको कैसे लीन करना, सच्ची उपासनाके बाधक और साधक, सच्चे उपासकोंके लक्षण आदि बातें बड़ी ही मार्मिक और सरल भाषामें लिखी गई हैं। ४८ पृष्ठका मूल्य ।)

१७—बच्चोंकी रक्षा

ले०—डाक्टर लुई कूने

डाकृर लुई कूने जर्मनीके प्रसिद्ध डाकृर हैं। आपने अपने अनुभवोंसे सब बीमारियोंको दूर करनेका प्राकृतिक उपाय निकाला है। आपकी जलचिकित्सा आजकल घर घरमें प्रचलित है। प्रस्तुत पुस्तक भी आपके ही अनुभवोंका फल है। इस पुस्तकमें डाक्टर साहबने यह दिखलाया है कि बच्चोंकी रक्षाकी उचित रीति क्या है और उसके अनुसार न चलनेसे हम अपनी सन्ततिको किस गर्तमें गिरा रहे हैं। पुस्तक बड़ी ही उपयोगी है। इसकी एक एक प्रति घर घरमें रहना चाहिये। विद्यार्थियोंकी पाठ्य पुस्तकोंमें रखने योग्य पुस्तक है। मूल्य केवल ।=)

१८—प्रेमाश्रम

लेखक—श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी

जिन्होंने प्रेमचन्दजीकी लेखनीका रसास्वादन किया है उनके लिये पुस्तककी प्रशंसा व्यर्थ है। पुस्तक क्या है वर्तमान दशाका सच्चा चित्र है। विविध अवस्थाओं और भावोंको बड़ी खूबीसे संयुक्त किया गया है। किसानोंकी दुर्दशा, जमींदारोंके अत्याचार, पुलिसके कारनामे, वकीलों और डाक्टरोंका नैतिक पतन, धर्मके ढोंगमें सरलहृदया स्त्रियोंका फंस जाना, स्वार्थसिद्धिके कलुषित मार्ग, देशसेवियोंके कष्ट और उनके पवित्र चरित्र, सच्ची शिक्षाके लाभ, गृहस्थीके झंझट, साध्वी स्त्रियोंका चरित्र, सरकारी नौकरीका दुष्परिणाम आदि भावोंको लेखकने इस खूबीसे चित्रित किया है कि पढ़ते ही बनता है, एक बार शुरू करनेपर बिना पूरा किये छोड़नेको दिल नहीं चाहता। ६५० पृष्ठोंसे अधिक है। सुन्दर खादीकी जिल्दका मूल्य केवल ३॥)

१६—पंजाब हरण और दलीप सिंह

लेखक—पं० नन्दकुमार देव शर्म्मा

१६ वीं सदीके आरम्भमें सिक्ख साम्राज्य महाराज रणजीतसिंहके प्रतापसे समृद्धशाली हो गया था। उनके मरतेही आपसके फूट बैर, कुचक्र, भीतरी घातों, अंग्रेज़ोंके विश्वासघातसे उसका किस प्रकार पतन हुआ, जो अंग्रेज़ जाति सभ्यताकी हामी भरती है, मैत्रीकी डींग हांकती है, उसने अपने परम प्रिय मित्र महाराज रणजीतसिंहके परिवारके साथ किस घातक नीतिका व्यवहार किया इसका वास्तविक दिग्दर्शन इस पुस्तकसे होता है। इससे अंग्रेजोंके सच्चे पराक्रमका भी पूरा पता चलता है। जो अंग्रेज़ जाति आज गली गली ढिंढोरे पीट रही है कि "हमने भारतको तलवारके बल जीता है" उनके सारे पराक्रम चिलियानवालाके युद्धमें लुप्त हो गये थे और यदि सिक्खोंने मिलकर एक बार उसी प्रकार और हराया होता तो शायद ये लोग डेरा डण्डा लेकर कूंच ही कर गये होते। पुस्तक बड़ी ओजसे लिखी गई है। सुन्दर मोटे एण्टिक कागजपर सचित्र २५० पृष्ठोंका मूल्य २)

२०—भारतमें कृषि-सुधार

लेखक—पण्डित दयाशंकर दूबे एम० ए०

आप भारतीय अर्थशास्त्रके धुरन्धर विद्वान—लखनऊ विश्वविद्यालयके अर्थशास्त्रके प्रोफेसर हैं। आपने प्रस्तुत पुस्तकमें बड़ी खोजके साथ दिखलाया है कि भारतकी गरीबीका क्या कारण है? कृषिका अधःपतन क्यों हुआ? अन्य देशोंकी तुलनामें यहांकी पैदावारकी क्या अवस्था है? और उसमें किस तरह सुधार किया जा सकता है, सरकारका क्या कर्त्तव्य है और वह उसका किस तरह पालन कर रही है। कई चित्र भी दिये गये हैं। मू० १॥)

२१--देशभक्त मैजिनीके लेख

लेखक—पण्डित छविनाथ पाण्डेय बी० ए० एल० एल० बी०

भूमिका लेखक—दैनिक "आज"के सम्पादक बाबू श्रीप्रकाश बी० ए०, एल० एल० बी० बेरिस्टर-एट-ला।

१८ वीं सदीमें इटलीकी क्या दशा थी। परराजतन्त्रके दमन-चक्रमें पड़कर इटली घोर यातनायें भोग रहा था। न कोई स्वतन्त्रतापूर्वक लिख सकता था और न बोल सकता था। कहनेका मतलब यह है कि भारतकी वर्त्तमान दशा इटलीकी उस समयकी दशासे ठीक मिलती जुलती है। इटली एकदम निर्जीव हो गया था। ऐसी ही दशामें देशभक्त मैजिनीने अपने लेखोंका शंखनाद किया। इनका ही प्रभाव था कि इटली जाग उठा और स्वतन्त्र बन गया। ग्रन्थके अन्तमें संक्षेपमें मैजिनीका जीवनचरित्र भी दिया गया है। पृष्ठ संख्या २६०से भी अधिक है। मूल्य २)

२२--गोलमाल

ले०—रायबहादुर कालीप्रसन्न घोष

जिन लोगोंने बंकिम बाबूका चौबेका चिट्ठा और लोकरहस्य पढ़ा है, वे गोलमालके मर्मको भली भांति समझ सकते हैं। राय बहादुर काली प्रसन्न घोषने बंगलाके 'भ्रान्ति विनोद' नामक पुस्तकमें समाजमें प्रचलित बुराइयोंकी—जिसे वर्त्तमान समाजने प्राय: अनिवार्य और क्षम्य मान लिया है—मार्मिक भाषामें चुटकी ली है। प्रत्येक निबन्ध अपने ढंगके निराले हैं। रसिकता और रसीली बातोंसे लेकर दिगन्त मिलन तक समाजकी बुराइयोंकी आलोचनासे भरा है। उसी भ्रान्ति विनोदका यह गोलमाल हिन्दी अनुवाद है। मूल लेखकके भावको ज्योंका त्यों रखनेकी पूरी चेष्टा की गई है। २०० पृ०, मूल्य १≡)

२३–१८५७ ई० के गदरका इतिहास

लेखक—पण्डित शिवनारायण द्विवेदी

सिपाहीविद्रोह क्यों हुआ? यह प्रश्न अभीतक प्रत्येक भारतवासीके हृदयको आन्दोलित कर रहा है। कोई इसे सिपाहियोंका क्षणिक जोश बतलाते हैं, कोई सिपाहियोंकी बेजड़ बुनियाद, धर्मभीरुता बतलाते हैं और कोई इसे राजनीतिक कारण बतलाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक अनेक अंग्रेज इतिहासज्ञोंकी पुस्तकोंके गवेषणापूर्ण छानबीनके बाद लिखी गयी है। पूरे प्रमाण सहित इसमें दिखलाया गया है कि सिपाहियोंकी क्रान्तिके लिये अंग्रेज अफसर पूर्णतः दोषी हैं और यदि वे चेष्टा किये होते तो लार्ड डलहौजीको कुटिल और दोषपूर्ण नीतिके रहते भी इतना रक्तपात न हुआ होता। प्रस्तुत पुस्तकसे इस बातका भी पता लगता है कि इस रक्तपातकी भीषणता बढ़ानेमें अंग्रेजोंने भी कोई बात उठा नहीं रखी थी। प्रथम भागके सजिल्द प्रायः ६०० पृष्ठों का मूल्य ३॥) द्वितीय भागके सजिल्द प्रायः ८०० पृ० मूल्य ४॥)

२४—भक्तियोग

ले०—श्रीयुक्त अश्विनीकुमार दत्त

अनुवादक चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'। कौन भगवानको प्रेमसे सेवा नहीं करना चाहता? कौन भगवद्-भक्तिके रसका आनन्द नहीं लेना चाहता? आदर्श भक्तोंके जीवनका रहस्य कौन नहीं जानना चाहता? हृदयकी साम्प्रदायिक संकीर्णताको त्यागकर सुन्दर मनोहर दृष्टान्तोंके साथ साथ उच्च कोटिके धर्मशास्त्रों और विद्वानों, भक्तों और महात्माओंके अनुभवोंसे भक्तिका रहस्य जाननेके लिये इस 'भक्तियोग' ग्रन्थका आदिसे अन्ततक पढ़ जाना आवश्यक है। २६८ पृष्ठका मू० सजिल्द १॥)

२५—तिब्बतमें तीन वर्ष

ले०—जापानी यात्री श्रीइकाई कावागुची

तिब्बत एशिया खंडका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु वहांके निवासियोंकी धार्मिकता तथा शिक्षाके अभावके कारण अभी तक वह खंड संसारकी दृष्टिसे ओझल ही था, परन्तु अब कई यात्रियोंके उद्योग और परिश्रमसे वहांका बहुत कुछ हाल मालूम हो गया है। इन्हीं यात्रियोंमें सबसे प्रसिद्ध यात्री कावागुचीकी यात्राका यह विवरण हिन्दी-भाषा भाषियोंके सामने रक्खा जाता है।

इस पुस्तकमें आपको ऐसी ऐसी भयानक घटनाओंका विवरण पढ़नेको मिलेगा जिनका ध्यान करने मात्रसे ही कलेजा कांप उठता है, साथही ऐसे ऐसे रमणीक स्थानोंका चित्र भी आपके सामने आयेगा जिनको पढ़कर आप आनन्दके सागरमें लहराने लगेंगे। आपको आश्चर्य होगा कि तिब्बत भारतके इतना नज़दीक होने पर भी अभीतक हमलोग उसके विषयमें कितने अनभिज्ञ थे।

इस पुस्तकमें दार्जिलिङ्ग, नेपाल, हिमालयकी बर्फीली चोटियां, मानसरोवरका रमणीय दृश्य तथा कैलाश आदिका सविस्तर वर्णन पढ़कर आप बहुतही आनन्दलाभ करेंगे।

इसके सिवा वहांके रहन सहन, विवाहशादी, रीति-रिवाज एवं धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अवस्थाओंका भी पूर्ण हाल विदित हो जायगा। यह पुस्तक इस ढङ्गसे लिखी गई है कि आप एक बार आरम्भ करनेके बाद बिना समाप्त किये नहीं छोड़ सकेंगे। पढ़नेमें उपन्याससे भी अधिक आनन्द मिलेगा। पुस्तक सुन्दर चिकने कागजके प्रायः ५२५ पृष्ठकी है। कावागुचीका चित्र भी दिया गया है मूल्य २॥) सजिल्द २॥।=)

२६—संग्राम

ले०—उपन्यास सम्राट् श्रीयुक्तप्रेमचंदजी

मौलिक उपन्यास एवं कहानियां लिखनेमें श्रीयुक्त प्रेमचन्दजीने हिन्दीमें वह नाम पाया है जो आजतक किसी हिन्दी लेखकको नसीब न हुआ। उनके लिखे 'प्रेमाश्रम' एवं 'सेवासदन' की प्रायः समस्त हिन्दी एवं अन्य भाषाके पत्रोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है।

इन उपन्यासोंको रचकर उन्होंने हिन्दी-संसारमें एक नवयुग उपस्थित कर दिया है, और नये तथा पुराने लेखकोंके सामने भाषाकी प्रौढ़ता तथा मौलिकता, विषयकी गंभीरता और रोचकताका एक आदर्श रख दिया है। जिससे आज हिन्दीके लेखकों और पाठकोंमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न हो गई है तथा विचारोंमें शुद्धता और पवित्रता आगई है।

उन्हीं प्रेमचन्दजीकी कुशल लेखनी द्वारा यह 'संग्राम' नाटक लिखा गया है। यों तो उनके उपन्यासोंमें ही नाटकका मजा आ जाता है फिर उनका लिखा नाटक कैसा होगा यह बतानेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनकी लेखनी मनोभावोंको प्रकट करनेमें सिद्धहस्त तो है ही नाटकमें तो मनोभावोंका ही संग्राम होता है फिर उसका क्या कहना। प्रस्तुत नाटकमें मनोभावोंका जो चित्र उन्होंने खींचा है वह आप पढ़कर ही अन्दाजा लगा सकेंगे। बढ़िया-एन्टिक कागजपर प्रायः २७५ पृष्ठोंमें छपी पुस्तकका मूल्य केवल १॥)

२७–चरित्रहीन

लेखक—श्रीयुक्त शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

बंगलामें श्रीयुत शरत् बाबूके उपन्यास उच्च कोटिके समझे जाते हैं। मनुष्यके चरित्र-चित्रण करनेमें शरत् बाबूकी लेखनी अद्वितीय है। उनके लिखे उपन्यास पढ़ते समय आंखोंके सामने घटना स्पष्ट रूपसे भासने लगती है और यही जान पड़ता है कि मानों पढ़नेवाला वहीं मौजूद है।

चरित्रहीनका विषय नामसे ही प्रकट हो जाता है। इसमें दिखाया गया है कि युवा पुरुष बिना पूर्णदेख रेखके किस तरह चरित्रहीन हो बैठते हैं। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि सच्चा स्वामिभक्त सेवक किस तरह कुव्यसनके पंजोंसे अपने मालिकको छुड़ा सकता है और अपने ऊपर आनेवाले कष्टकी कुछ परवा न कर, मालिककी भलाईका हमेशा खयाल रख कैसे उसे सच्चरित्रताके सिंहासनपर बिठा सकता है।

इसके अतिरिक्त पति-पत्नीमें प्रेमका होना कितना सुखद है, पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा किस प्रकार कर सकती है और सच्चरित्र पुरुष अपनी सती सहधर्मिणीको हृदयसे कितना प्यार कर सकता है तथा अच्छे घरकी विधवा दुष्टाके बहकावेमें पड़कर कैसे अपने धर्मकी रक्षा कर सकती है, इन सब बातोंका भी इसमें पूर्णरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है।

उपन्यास इतना रोचक और शिक्षाप्रद है कि एक बार हाथमें लेनेपर पुनः समाप्त किये बिना छोड़नेको जी नहीं चाहता।

पृष्ठ संख्या ६६४ सुन्दर खादीको जिल्द सहित मूल्य ३।)

हिन्दी पुस्तक एजेंसी-मालामें

शीघ्र निकलनेवाली पुस्तकोंका

संक्षिप्त परिचय

२९—आकृति निदान

अनुवादक—श्रीरामदास गौड़ एम० ए०

जर्मनीके प्रसिद्ध जलचिकित्सक डा० लूई कूनेकी एक प्रसिद्ध पुस्तकका बड़ी सरल भाषामें अनुवाद। पचासों चित्र देकर पुस्तकका विषय बड़ी सरलतासे समझाया गया है। सुन्दर एण्टिक;कागजपर छप रही है।

३०—वीर केशरी शिवाजी

ले०—पं० नन्दकुमारदेव शर्म्मा

वीरवर शिवाजीके सम्बन्धमें अभीतक कोई ऐसी प्रामाणिक और खोजके साथ पुस्तक नहीं लिखी गयी जिसमें अन्य भाषाके लेखकोंको मुंहतोड़ उत्तर दिया गया हो। हिन्दू धर्मकी रक्षा किस वीरता धीरता और नीतिज्ञतासे शिवाजीने की थी, इसे पढ़कर आप मुग्ध हो जायंगे। सुन्दर एण्टिक कागजपर छप रही है।

३१—भारतीय वीरता

यह पुस्तक क्या है भारतीय वीरता, भारतीय देशभक्ति, भारतीय सहनशीलता, एवं भारतीय गौरवका चित्र है जहां आप प्रातः

स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंहकी धीरता और वीरताको पढ़कर मुग्ध होगें, जहां वीरकेशरी शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह तथा महाराजा रणजीतसिंहकी देशभक्ति, नीतिज्ञता और समयके अनुसार कार्यकुशलतापर उछल पड़ेंगे, जहां भारतीय रमणियों, ललनाओंका ओजपूर्ण आत्मत्याग और पातिव्रत धर्मके भावपर मर मिटनेके सीनको देखकर आपका कलेजा कांप उठेगा; वहां आपको अकबरकी लालसाभरी कूटनीतिज्ञता, औरंगजेबकी द्वेषपूर्ण वाचालतापर आंसू गिराने पड़ेंगे। यह पुस्तक क्या है भारतके १५००—१८५७ तककी पुरानी ऐतिहासिक घटनाओंका निचोड़ है। पुस्तकमें जहां तहां चित्र देकर इसकी उपयोगिता और मनोहरता बहुत बढ़ा दी गयी है। पुस्तक सुन्दर खादीकी रङ्गीन जिल्दकी होगी सुन्दर एण्टिक कागजपर छप रही है।

३२---रागिणी

अ०—हिन्दी नवजीवनके सम्पादक पं० हरिभाऊ उपाध्याय

यह पुस्तक मराठी भाषाके प्रसिद्ध इसी नामके उपन्यासका अनुवाद है। यह पुस्तक क्या है एक गद्य काव्य है। मराठीमें तो इसके कई संस्करण हो चुके हैं। यह उपन्यास अपने ढंगका एक ही है। ५००-५५० पृष्ठमें समाप्त होगा। सुन्दर चिकने कागजपर बड़े सजधजसे छापा जा रहा है।

मौलाना रूम और उनका काव्य

ले० जगदीशचन्द्र वाचस्पति

फारसी भाषामें मसनवी रूम बड़ा उत्कृष्ट ग्रन्थ है। फारसीमें अध्यात्म विषयोंपर यह ग्रंथरत्न अपने ढंगका एक ही है। इसके अधिकांश सिद्धान्त भारतीय वेदान्तसे बहुत मिलते जुलते हैं।

इस पुस्तकमें लेखकने मौलाना रूमके विचारोंका आर्षग्रन्थोंसे जहां तहाँ बड़ी सुन्दरतासे मुकाबिला किया है। हिन्दी भाषामें यह अपने ढंगकी एकही आलोचनात्मक पुस्तक है।

महात्मा गांधीजीके आदेशानुसार राष्ट्रीय शिक्षालयोंके लिये संगृहीत

हिन्दीके अनुभवी विद्वान

अ० रामदास गौड़ एम० ए० द्वारा सम्पादित

राष्ट्रीय शिक्षावली

पहली पोथी—(छोटी) बच्चोंको अक्षर ज्ञान करानेवाली। सचित्र पृ० सं० २० मूल्य)॥

पहली पोथी--(बड़ी) जिसमें नये ढङ्गसे अक्षर ज्ञान करानेकी रीति बतायी गयी है। ककहरेके चित्र भी दिये गये हैं। जिससे बच्चोंकी मनोरञ्जकता बढ़ गयी है। मूल्य ≈)

दूसरी पोथी—अक्षर ज्ञान हो जानेपर पढ़ानेकी पोथी। जीवन चरित्र, इतिहास, नीति और कविताका सचित्र संग्रह पृ० सं० ६४, मूल्य ।)

तीसरी पोथी—राष्ट्रीय पाठशालाओंके अपर प्राइमरी स्कूलोंमें पढ़ानेकी। जिसमें इतिहास, जीवनी, नीति, वस्तुपाठ और कविताओंका सचित्र संग्रह है। पृ० सं० १०४ मूल्य ।≈)॥

चौथी पोथी—इस पुस्तकमें शिक्षाप्रद गल्पें, महापुरुषों-के जीवनचरित्र, विज्ञान, नीति, कृषि, स्वास्थ्यरक्षा, प्राणि-शास्त्र, उद्योगधन्धे आदि बालकोपयोगी विषयोंका सचित्र वर्णन है। पृ० सं० १५२ मूल्य ॥)

पांचवीं पोथी—राष्ट्रीय पाठशालाओंकी मिडिल कक्षाके लिये। इसमें स्वास्थ्य-संगठन, विज्ञान, आदर्श जीवनचरित्र, राजनीति, स्वावलम्बन-विषयक पाठों और सुन्दर २ नीतिपूर्ण कविताओंका अनुपम और सचित्र संग्रह किया गया है। पृ० सं० २४०, मूल्य ॥)

छठी पोथी—इसके पढ़नेसे विद्यार्थियोंको अपना जीवन आदर्श बनानेमें विशेष सहायता मिलती है। प्राचीन साहित्यका पूरा परिचय मिलता है। अर्थशास्त्र, जीवनचरित्र, विज्ञान और नीति-विषयक पाठोंका इसमें संग्रह है। रोचक कविताओंका संग्रह बड़ी सावधानीसे किया गया है। उनमें प्राकृतिक वर्णन, जातीय गान और स्वदेश-प्रेम विषयक अनुपम चित्र खींचा गया है। पृ० सं० ३२०, मूल्य १)